२०९
म

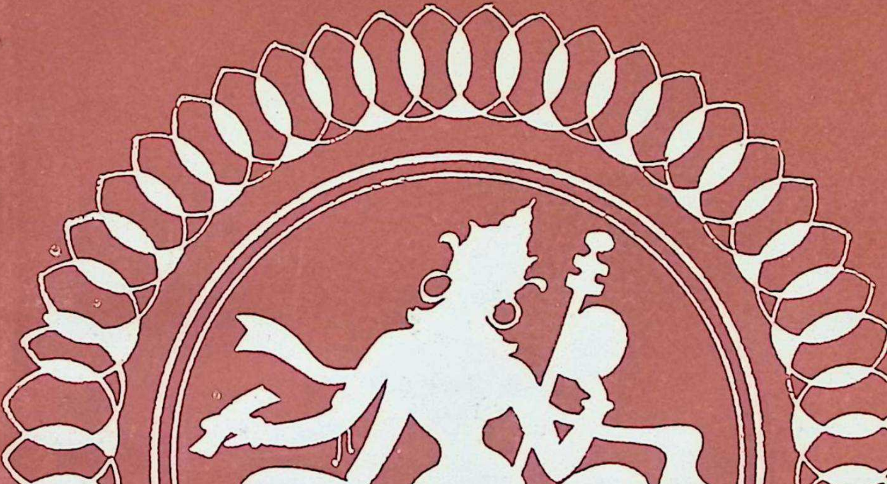

मध्यकालीन हिन्दी नाट्य-परंपरा और भारतेन्दु

लेखक

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

बड़ौदा विश्वविद्यालय,

बड़ौदा

भारतीय राजदूतावास

डा. डिल्ली रमण रेग्मी

कल्याणी रेग्मी स्मारक

पुस्तकालय

प्रकाशक

ग्रन्थ-कुटीर,

पी० रोड, कानपुर

प्रकाशक—ग्रन्थ-कुटीर, पी० रोड, कानपुर
लेखक—कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह एम० ए०
मूल्य ४·५० न० पै० — साढ़े चार रुपये
प्रकाशन काल—१५ अगस्त, १९५८ ई०
आवरण चित्रकार—शिल्प-निकेतन, कानपुर
मुद्रक—दि सेन्ट्रल प्रेस प्रा० लि०, कानपुर

डा. दिल्ली ...
... पुस्तकालय

निवेदन

'हिन्दी नाट्य-साहित्य और रंगमंच' की परम्परा का अनुशीलन और अनुसन्धान करते हुए मुझे कुछ ऐसी प्रामाणिक सामग्री मिली, जिससे मुझे विश्वास हो गया कि हमारी नाट्य-परम्परा मध्यकाल में भी अखंड रही। जिस जाति में भास, कालिदास, अश्वघोष और भवभूति जैसे नाटककार होते रहे हों, जिस देश में ईसवी सन् के पूर्व ही नाट्य शास्त्र जैसा ग्रन्थ लिखा जा चुका हो और जहाँ दशरूपक, नाट्यदर्पण और साहित्य-दर्पण जैसे ग्रन्थों के प्रणयन की परिपाटी चौदहवीं शताब्दी तक निरंतर चलती रही हो, उसी देश और जाति में नाटक रचना की प्रतिभा और प्रवृत्ति कई शताब्दियों के लिए नितान्त निःशेष हो जाय, मैं कभी भी इसे हृदय से पूर्णरूप से स्वीकार नहीं कर सका। उक्त विषय पर अनुसंधान करते हुए उत्तरोत्तर मेरी इस धारणा की पुष्टि होती गयी। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने उपलब्ध सामग्री के आधार पर हिन्दी की मध्यकालीन नाट्य-परम्परा की अखंडता और विशिष्टता को सम्यक उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। मैंने यह भी दिखाया है कि यह नाट्य-परम्परा जहाँ एक ओर वैदिक काल के नाटकीय संवाद-सूक्तों और कर्मकाण्डीय नाटकों से विकास-श्रृंखला द्वारा जुड़ी हुई है तो दूसरी ओर यही भारतेन्दु-काल के नाटकों में बड़े सहज रूप में संक्रमित हो जाती है। यह सामग्री समय-समय पर हिन्दी की शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई है। इस विषय पर अन्य विद्वानों ने जो कार्य किया है उसमें पायी जाने वाली असंगतियों का भी मैंने यथास्थान निर्देश और निराकरण कर दिया है।

दो एक प्रसंगों में इस पुस्तक में पुनरुक्ति संभाव्य है। नवीन विषय की सुस्पष्ट अवतारणा एवं स्थापना के लिए ऐसा अनिवार्य हो गया। कुछ विषय अनुक्त भी रह गये, जिनका स्पष्टीकरण मैं भूमिका में कर देना चाहता था। पर समयाभाव के कारण वह न हो पाया। अगले संस्करण में इस अभाव की पूर्ति हो जायेगी।

यह खेद की बात है कि हमारा आज का उच्च शिक्षित समाज भी अपने देश के नाट्य-शास्त्र के विधान से अवगत नहीं रह गया है। इसलिए नाटक की रसानुभूति उसके लिए दुर्लभ हो गयी है। विचित्रता तो यह है कि रस की निर्वैयक्तिक एवं ब्रह्मास्वादसहोदर अनुभूति में तन्मय होने की शिक्षा देने वाले

नाट्य-शास्त्र के विधान को आज के विद्वान् भी अनुपयोगी और अनावश्यक मानने लगे हैं। वस्तुतः इस विधान का महत्त्व जितना वैयक्तिक है, उतना ही सामाजिक भी अर्थात् विधान की शिक्षा नाटक-लेखक के लिए जितनी आवश्यक है, प्रेक्षक के लिए भी वह उतनी ही उपादेय है। यह शिक्षा प्राप्त कर नाटक-लेखक की प्रविधि में पूर्णता आती है और प्रेक्षक की रसज्ञता बढ़ती है। परन्तु हिन्दी के आधुनिक नाट्य-समीक्षक नाटकों को केवल पाश्चात्य नाट्यशास्त्र की कसौटी पर परखते हैं। हमारे आदरणीय गुरुवर डा० जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा जी ने प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत कर आधुनिक हिन्दी में पहले-पहल भारतीय नाट्य शास्त्र के विस्तृत एवं जटिल विधान की व्यावहारिक उपयोगिता का प्रमाण दिया था। प्रस्तुत पुस्तक में भी भारतेन्दु के नाटकों के क्रियाकल्प का शास्त्रीय परीक्षण किया गया है।

अपने नाट्यानुशीलन और एतद्विषयक शोध का परिणाम मुझे जिस रूप में अत्यन्त विनम्रतापूर्वक हिन्दी जगत् के समक्ष उपस्थित करना है, उसका यह पहला भाग है। मुझे विश्वास है, इसमें हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास के नव-निर्माण में सहायता मिलेगी। इस पुस्तक में प्रयुक्त रासलीला-विषयक सामग्री मुझे ब्रजभूमि के उच्चकोटि के साधना सम्पन्न संतों से मिली है। वस्तुतः उनका कृपा-प्रसाद ही इस पुस्तक के रूप में प्रतिफलित हुआ है। मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ। हिन्दी-जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० बल्देव प्रसाद मिश्र एम० ए०, डी-लिट्० से निरंतर मिलती रहने वाली पुण्य प्रेरणा के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। यदि मेरा यह श्रम विद्वानों की स्नेहसिक्त दृष्टि से अभिषिक्त हो सका, तो मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानूंगा। 'जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं, सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।'

स्वतन्त्रता दिवस १९५८
हिन्दी-विभाग
बड़ौदा विश्वविद्यालय
बड़ौदा

चन्द्रप्रकाश सिंह

विषय-सूची

१—भारतीय नाट्य परम्परा	....	१
२—मध्यकालीन लोकधर्मी नाट्य परम्परा	....	२०
३—मध्यकालीन धार्मिक नाट्य परम्परा (रासलीला)		३७
४—मध्यकालीन धार्मिक नाट्य परम्परा (रामलीला)		८५
५—मध्यकाल की नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ	....	१०७
६—भारतेन्दु के नाटकों का क्रियाकल्प	...	१०९

E598320S

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१	मे	के
४	२६	ऐसे को	ऐसे लक्ष्य को
८	१४	सतपद	संतपद
१०	६	गणिक	वणिक
१७	१७	कथनोपकथन	कथोपकथन
२१	२५	आह्लादित	आप्लावित
२३	८	सोत	स्रोत
२३	१६	कृष्णनाट्टर	कृष्णनाट्टम्
२३	१८	ककावली	कथाकली
२३	२५	राजाओं	जात्राओं
२४	४	मान्य	मात्र
२४	६	विशिष्ट	शिष्ट
२४	२०,२५	नाच	माच
२५	२३	पुरुष	परुष
२७	२३	सलाम सलाम	सात सलाम
३१	८	पूर्ण	पूरी
३१	१४	छिपि	छीपी
३३	१०	कुशपालक	वुलपालक
३३	१६	सुघर	सुकर
३४	२६	पतिहंती	पतिहंत्री
३४	२७	पतिव्रता	पातिव्रत
३५	३३	डी० आर० मानकर कृत 'टाइम्स आफ संस्कृत ड्रामा'	डी० आर०मानकद कृत 'टाइम्स आफ संस्कृत' ड्रामा
४४	१३	प्रातः	प्रायः
४६	४	कौशिकी	कैशिकी
४६	१८	खर्च	खर्व
४९	२८	मर्मालाप	नर्मालाप
५२	२	प्रेम-वैचित्र्य	प्रेमवैचित्त्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२	३	सन्निकर्षेअपि	संनिकर्षेऽपि
५२	४	विश्लेषभियार्तिस्तत्	विश्लेषधियार्तिस्तत्
५२	५	प्रेमवैचित्र्य मुच्येत	प्रेमवैचित्त्यमुच्यते
५३	७	कर्मतीति	कर्षतीति
५३	१४	तस्मात्रासोपद्यते	तस्मात्रासोत्पद्यते
५५	१०	लान	मान
५५	१८	द्वंद स्वरूप	ह्रदस्वरूप
६०	२७	परेवन	परेवा
६२	९	अचरज	आचारज
६२	१९	उद्यत	उद्धत
६३	२५	प्राक्ट्य	प्राकट्य
६७	२७	बूटीलीला	बूढ़ीलीला
७०	२	सांकेतिक	संकेतित
७०	११	पद	यह
७८	६	संयन्न	संपन्न
७९	९	परिणित	परिणति
७९	३१	जो संभव है	बहुत संभव है
८०	१	प्रक्रुत्ति	प्रवृत्ति
८३	१७	अकाट्य-स्थान	प्राकट्य-स्थान
९३	१३	चूणामणि	चूड़ामणि
१००	७	पयहमी	पयहारी
१०६	२९	गाँव	गद्य
१०९	१६	परिपार्श्वक	पारिपार्श्वक
११८	६	दुरास्था	दुरवस्था
१२५	११	प्रतिक्रपालु	प्रतिक्रियालु
१३४	४	यथा अवसर	यथावसर

१

भारतीय नाट्य परंपरा

देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने भारतीय नाटक की उत्पत्ति के संबध में अनेक मतवादों की सृष्टि की है। इन सभी लोगों का ध्यान सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध उस रूपक की ओर जाता है जिसमें ब्रह्मा द्वारा योगस्थ होकर ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गान और अथर्ववेद से रस लेकर एक सार्ववर्णिक नाट्यवेद के रचे जाने की कथा कही गयी है।[१] विद्वानों ने प्राय: इसे भारतीय नाटक की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत मान लिया है और इसकी ऐतिहासिक समीक्षा में प्रवृत्त होकर विभिन्न अभिनव निष्कर्ष निकाले हैं। वस्तुत: इस प्रकार इस रूपक का वास्तविक रूप उपेक्षित हुआ है और अनेक निराधार और अनावश्यक[२] कल्पनाओं को आधार मिला है। यह कथा एक रूपक-मात्र है और इसका नाटक में जन्म अथवा विकास की परंपरा के विवरण में कोई विशेष स्थान नहीं है। इसमें केवल नाट्यकला के स्वरूप और उसके आदर्श का निर्देश किया गया है।

वैदिक संवाद-सूक्त

नाटक की उत्पत्ति के विषय में अनुसंधान करने का उद्देश्य है उसके पूर्वतम रूप को जान लेना। भारतीय नाटक का पूर्वतम रूप हमें वैदिक संवाद-सूक्तों में मिलता है। अकेले ऋग्वेद में ही इस प्रकार के प्राय: पंद्रह संवाद-सूक्त मिलते हैं, जिनमें यम-यमी, पूरूरवा-उर्वशी, अगस्त्य-लोपामुद्रा विश्वामित्र-नदी, इंद्र-वामदेव आदि के संवाद हैं। निर्विवाद रूप से इन संवाद-सूक्तो में नाटकीय कथोपकथन के गुण विद्यमान हैं।

१—नाट्यशास्त्र १।११-२२।

२—द्रष्ट० कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० १३।

मैक्समूलर[1] का अनुमान है कि ऋग्वेद का इंद्र-मरुत् संवाद मरुतों के सम्मान में होने वाले यज्ञों के अवसर पर दुहराया जाता था। संभवतः दो दलों द्वारा इसका अभिनय भी होता था, जिनमें एक इंद्र और दूसरा मरुतों और उनके अनुचरों का प्रतिनिधित्व करता था। प्रोफेसर लेवी ने भी इस धारणा की पुष्टि की है। इसे दुहराते हुए उन्होने ने कहा है कि सामवेद से प्रकट है कि संगीत-कला वैदिक काल में पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुकी थी। ऋग्वेद[2] में ऐसी कुमारियों का उल्लेख है, जो वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर नृत्य करती हैं और अपने प्रेमियो को आकर्षित करती हैं। अथर्ववेद में संगीत के साथ नृत्य करने वाले पुरुषों का विवरण मिलता है। अतएव यह मान लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती कि ऋग्वेद-काल में नाटकीय प्रदर्शन होते रहते थे, जिनका स्वरूप धार्मिक था। इनमें पुरोहित पृथ्वी पर स्वर्ग की घटनाओं का अनुकरण करने के लिये देवताओं और ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे। इस मत का स्वाभाविक निष्कर्ष प्रोफेसर फान श्रॉयडेर के सिद्धांत में मिलता है। उनका कथन है कि संवाद-सूक्त और लव-सूक्त (ऋग्वेद १०। ११९) जैसे कुछ स्वगत-सूक्त भी वैदिक अध्यात्म-रूपकों के अवशेष हैं, जो बीजरूप में भारोपीय काल से चले आ रहे हैं। इन रूपकों की परंपरा का जन-साधारण में प्रचलित लोकप्रिय रूप हजारों वर्ष बाद आज भी बंगाल की यात्राओं में मिलता है। इसके विपरीत सुसंस्कृत तथा पुरोहित वर्ग के आश्रय में पोषित वैदिक नाटक बिना किसी उत्तराधिकारी के ही समाप्त हो गया।

संवाद-सूक्त आध्यात्मिक नाटक (रूपक) हैं, इस मत के समर्थन में डा० हर्टल ने एक नवीन तर्क उपस्थित किया है। उनका कहना है कि वैदिक सूक्त गाये जाते थे। गाने में एकाधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी; क्योंकि गाते समय एक ही गायक के लिये विभिन्न वक्ताओं के बीच आवश्यक अंतर स्पष्ट कर सकना असंभव था। एक व्यक्ति ऐसा तभी कर सकता था, जब ये सूक्त गाये न जाते होते। अतएव इन सूक्तों में नाट्यकला का प्रारंभिक रूप मिलता है, जिसकी तुलना गीत-गोविंद से की जा सकती है। हर्टल सुपर्णाध्याय को अधिक विकसित रूप में एक पूरा नाटक मानते हैं। उनके मत से वैदिक नाटक का पृथक् अस्तित्व नहीं, उसके विकास की एक श्रृंखला है। ऋग्वेद में वह केवल अपने प्रारंभिक रूप में दिखायी देता है, सुपर्णाध्याय में वह विकास के पथ पर है और यात्राओं में हम पुरानी शैली की परंपरा पाते हैं,

---

१—Die Sagents offe des Rigveda, P. 27

२—१।९२।४

जिससे हमे वैदिक नाटक से भारत के शास्त्रीय नाटक के विकास को समझने में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से यह मत फान श्रॉयडेर के मत से भिन्न है। श्रॉयडेर यात्राओ का प्रकृत संबंध परवर्ती नाटक से मानते है, जिसका विकास विष्णु कृष्ण और रुद्र-शिव संप्रदायो के घनिष्ठ संपर्क मे हुआ। उनके अनुसार यात्राओं तथा वैदिक संवाद-सूक्तों का मूल तो एक ही है, पर विकास भिन्न है।

कीथ[1]ने श्रॉयडेर के मत का खंडन किया है और इन सूक्तों की नाटकीयता को अमान्य ठहराया है। अपने मत का प्रति-पादन करते हुए श्रॉयडेर ने ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों को प्रजनन-कर्मकांड (Fertility-ritual) के अंतर्गत होने वाले नाटक का अंग माना है। कारण, उन्होंने भारतीय नाटक की उत्पत्ति भी पाश्चात्य नाटक के उद्भव की भांति प्रजनन-कर्मकाड से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कीथ का यह कहना ठीक ही है कि इन नाटकों में प्रजनन- कर्मकाण्ड को खींच लाने का विफल प्रयास किया गया है। परतु प्रजनन-कर्मकांड के अभाव में भी इन सूक्तों की नाटकीयता कम नहीं हो जाती। यथार्थ में जैसा कि नाट्यशास्त्र में कहा गया है, भारतीय नाटक का आदर्श वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाना है।[2] अतः वेद के आध्यात्मिक और दार्शनिक तथ्यों को अभिनय द्वारा जन-साधारण के लिए भी ग्राह्यबनाने का प्रयत्न ऋग्वेद-काल से ही चला आता प्रतीत होता है। वे सवाद-सूक्त इन्हीं अध्यात्म-नाटकों के कथनोपकथन माने जा सकते हैं। वेद के आध्यात्मिक और दार्शनिक तथ्यो को नाटकीय रूप देकर जन-साधारण में उनका प्रचार करने की यह परंपरा ही यात्रा, रामलीला आदि मे चली आ रही है। इस प्रकार श्रॉयडेर द्वारा कल्पित प्रजनन-कमकांड तथा हर्टल[3] द्वारा प्रतिपादित गेयता के अभाव में भी सवाद-सूक्तों की नाटकीयता अक्षुण्ण बनी रहती है।

परंतु संवाद-सूक्तों की उक्त नाटकीयता का निर्णय हठवादिता से नहीं किया जा सकता। शुनःशेप-सूक्त[4] अथवा अगस्त्य-लोपामुद्रा[5] सवाद जैसे स्थलों में विंडिश, पिशल और ओल्डनबर्ग आदि विद्वानों के मत के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सकता है, जिसके अनुसार ये संवाद-सूक्त भारोपीय काल से चली

१—सं० ड्रा०, पृ० १७-२०

२ ना० शा० १।१२

३ -द्रष्ट० हर्टल के मत पर कीथ की आपत्ति, सं० ड्रा०, पृ० २०-२१

४ —ऋग्वेद १।२४ से १।३०तक।

५—वही, १।१७९

आनेवाली एक प्राचीन गद्य-पद्यमयी महाकाव्य-परंपरा के अंतर्गत आते हैं, जिसमें से पद्य-भाग सुव्यस्थित और अधिक रसात्मक होने के कारण अवशिष्ट रह गया और गद्य-भाग अव्यस्थित और अस्थिर होने के कारण पद्यात्मक संहिताओं में स्थान न पा सका। वह केवल अनुश्रुति द्वारा चलता हुआ ब्राह्मण-ग्रन्थों में पृथक् रूप से सुरक्षित हो गया। ऋग्वेद ४।१८,४।४२ तथा इंद्र-बैकुंठ और सौचीक-अग्नि के सूक्तों में गेल्डनर द्वारा प्रतिपादित वीरगाथाओं का स्वरूप भी देखा जा सकता है, और यह संभव है कि आगे चलकर रामायण से लेकर ढोला-मारू और गोपीचन्द-भर्थरी तक वीर-गाथा को नाटकीय ढंग से पढ़ने या गाने की जो परंपरा पायी जाती है, उसका यह पूर्व रूप हो। इसके अतिरिक्त यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, नदी-विश्वामित्र आदि के संवाद स्वयं पूर्ण हैं और इनको ज्यों-का-त्यों अभिनीत किया जा सकता था।

वैदिक कर्मकांड

इन नाटकीय संवाद-सूक्तों के अतिरिक्त वैदिक कर्मकांड में भी कुछ ऐसी लीलाएँ होती थीं जिनको नाटक कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए सोम-क्रयण[१] को ले सकते हैं। सोम-यज्ञ के प्रारम्भ में एक शूद्र सोम बेचने के लिये आता है और मोल के पश्चात् मूल्य देकर सोम खरीद लिया जाता है। परंतु अंत में वह मूल्य भी उससे छीन लिया जाता है और उसको पत्थरों और ढेलों से मार-मार कर भगा दिया जाता है। बेचारा शूद्र उसी प्रकार हाथ मलता रह जाता है जिस प्रकार मधु लूट लिए जाने पर मधु-मक्षिका। इस लीला में न केवल संघर्ष, कथोपकथन, अभिनय तथा वस्तु-विकास की विविध अवस्थाएँ आदि नाटकीय कथानक के आवश्यक अंग उपलब्ध हैं, अपितु नाटक का चरम लक्ष्य रस भी प्रचुर मात्रा में मिल जाता है। कीथ[२] का कहना है कि यथार्थ नाटक की उपलब्धि तभी हो सकती है, जब अभिनेता जान-बूझकर प्रदर्शन के लिए ही अभिनय करे और उसका लक्ष्य यदि अर्थ-प्राप्ति नहीं, तो कम-से-कम अपना और दूसरों का मनोविनोद करना हो। उनके मतानुसार वैदिक कर्मकांड में अभिनेता किसी ऐसे को सामने न रखकर केवल धार्मिक अथवा तांत्रिक सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं, इसलिए उसे नहीं माना जा सकता। कीथ के इस कथन के मूल में फ्रेजर आदि द्वारा प्रतिपादित वह मत प्रतीत होता है जिसके अनुसार संसार की दूसरी जातियों की धार्मिक क्रियाओं के समान वैदिक यज्ञ भी यंत्र-तंत्र और जादू टोना मात्र रह जाते हैं। परंतु ऐसा मानने में कीथ स्वयं अपने

१—शत० ब्रा०, ३।३।२।६; गो० २।३।३।९

२—सं० ड्रा०, पृ० २४

उस मत को छोडते हुए प्रतीत होते हैं जो उन्होंने आगे चलकर वैदिक यज्ञों के संबंध में 'फिलासफी ऑव वेद ऐंड उपनिषद'[1] में निर्धारित किया है, और जिसके अनुसार वे वैदिक यज्ञों को आध्यात्मिक नहीं तो कम-से-कम प्राकृतिक तथ्यों का अनुकरण मानने को तैयार हो गये हैं। यथार्थ में वैदिक यज्ञ स्वयं सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्यों को सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य बनाने के लिये ही प्रचलित किया गया था।[2] जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक का भी लगभग यही उद्देश्य है। अत: जब एक दृष्टि से सारे वैदिक यज्ञों को ही 'बेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने वाले नाटक' माना जा सकता है, तो उसके अंतर्गत आने वाले सोम-क्रयण या महाव्रत आदि क्रियाओं की नाटकीयता में तो कोई संदेह रह ही नहीं जाता। यह बात अवश्य है कि यज्ञ कोरे मनोविनोदकारी नाटक ही नहीं है अपितु उनके अंतर्गत सोम-याग आदि जी उकताने वाला अनेक प्रकार का धार्मिक कर्मकांड भी आता है और उनका यह रूप ही आगे चलकर अधिकाधिक विकसित होता हुआ अवशिष्ट रह जाता है, जिसका उद्देश्य कोई अलौकिक सिद्धि मात्र समझ लिया जाता है। परंतु यज्ञों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह बात भली-भाँति समझी जा सकती है कि प्रारंभ में उनका लक्ष्य केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक तथ्यों को अभिनय या कर्मकांड द्वारा सर्वग्राही बनाना ही था।[3] पीछे, कर्मकांड के अत्यंत विस्तृत और जटिल हो जाने के कारण यह प्रधान लक्ष्य विस्तृत हो गया और नाटक से सादृश्य रखनेवाला यज्ञों का लोकप्रिय रूप प्राय: नष्ट हो गया। फिर भी नाटक को यज्ञों से पूरी तरह नहीं निकाला जा सका और जी उकताने वाले लम्बे-लम्बे यज्ञों के बीच-बीच ऋत्विजों और यजमानों के मनोरंजन के लिए ब्रह्मोद्य-कथाओं के साथ-साथ कुछ मोटे-मोटे नाटक के ढंग के प्रदर्शन भी होते रहे। सोम-क्रयण तथा महाव्रत के साथ होने वाली नृत्य आदि क्रियाओं को हम इसी प्रकार के प्रदर्शनों में गिन सकते हैं। अत: प्रोफेसर हिलेब्रां और कोनो का कथन ठीक ही है कि इस प्रकार की क्रियाएँ पूर्णरूपेण कर्मकांडीय नाटक हैं, चाहे, जैसा कोनो का कथन है, इनकी रचना समाज में प्रचलित लोकप्रिय स्वांगों के अनुकरण में हुई हो अथवा स्वतंत्र रूप से।

अपने उद्भव-काल में नाटक और यज्ञ के इस अभिन्न सम्बन्ध का प्रमाण हमें नाट्यशास्त्र में सुरक्षित परंपरा से भली-भाँति मिल जाता है। यह बात

१—पृ० ३५५-३५६,

२—डा० फतहसिंह, 'वैदिक, दर्शन'

३—वही, 'दि कंसेप्ट ऑव वेदिक सोश्यालॉजी'।

निर्विवाद रूप से मानी जा सकती है कि वैदिक साहित्य और उसको व्यावहारिक रूप देनेवाले यज्ञों के मूल में देवासुर-संग्राम तथा उसके अंत में होने वाली इन्द्र की विजय ही है। नाट्यशास्त्र से भी यही पता चलता है कि नाट्य-प्रयोग का प्रारम्भ देवासुर-संग्राम में असुर और दानवों की पराजय के पश्चात् होने वाले महेन्द्र-विजयोत्सव के समय ही हुआ, जिसकी नांदी में देवों द्वारा दैत्यों पर प्राप्त विजय के अनुकरण का समावेश था—

अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्।
ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे।।
प्रहृष्टामरसंकीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे।
पूर्वं कृता मया नान्दी आशीवचन संयुता।।
अष्टांगपदसंयुक्ता विचित्रा देवसंमता।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः।।
(ना० शा०, १।५५-५७)

नांदी के पश्चात् जो नाटक अभिनीत किया गया, उसमें भी देवों द्वारा दैत्यों और दानवों का विनाश दिखाया गया ('एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्य-दानव-नाशने') जिससे कहा जाता है कि इस अभिनय से असुर लोग अप्रसन्न हुए, और उन्होंने विघ्न करना आरम्भ कर दिया। परन्तु इंद्र ने वहीं गड़े हुए अपने ध्वज को उठाकर उससे सारे विघ्नकारी असुरों को नष्ट कर दिया। यह देखकर देवता लोग बहुत प्रसन्न होकर बोले—'तुम्हारे दिव्य शस्त्र को धन्यवाद है। इसने सारे दानवों के सभी अंग जर्जर कर डाले हैं। अतः इसने सारे विघ्नों और असुरों का जर्जर कर डाला है, इसलिये इसका नाम 'जर्जर' होगा, और जो भी हिंसक बच रहे हैं वे हिंसा के प्रयोजन से आने पर इस 'जर्जर' को देखकर इसी अवस्था को प्राप्त हो जायँगे।'[१]

कहा जाता है कि उक्त 'जर्जर' नाम का इंद्र-ध्वज असुरों से रक्षा करने के लिये ही रंगशाला में स्थापित किया जाता था[२] संभवतः यज्ञों में स्थापित यूपों का भी प्रारंभमें यही आशय था, पीछे जब यज्ञों में हिंसा का प्रयोग होने लगा[३] तो उससे पशु बाँधने का काम भी लिया जाने लगा, जिसके कारण यूप की आकृति भी कुछ विशेष प्रकार की होने लगी। इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मण-ग्रंथों में यूप को प्रायः इंद्र का वज्र कहा गया

१—ना० शा०, १।७०-७४

२—वही, १।७६; तुलनीय हेमेंद्रनाथ, 'इंडियन स्टेज,' पृ० ४-९

३—डा० फतहसिंह, 'दि कंसेप्ट ऑव यज्ञ इन वेदिक सोश्यालॉजी'

है।,[1] और फलत: उसका विघातक रूप नाट्यशास्त्र के उक्त जर्जर-ध्वज से पूर्णतया मिलता है। यज्ञ यूप के अनुकरण-स्वरूप उक्त ध्वज का स्थापित करने की प्रथा केवल नाट्यशालाओं में ही नहीं, अपितु नाटक की भांति ही वैदिक साहित्य था वैदिक कर्मकांड से उद्भूत और प्रभावित इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं में भी प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये वीरगाथात्मक वैदिक संवाद-सूक्तों की परंपरा में चली आती हुई पौराणिक कथाओं के प्रवचन में भी इसी प्रकार का एक ध्वज गाड़ा जाता है; वहाँ यदि कोई अंतर है तो इतना ही कि वैदिक देव और असुर के स्थान पर क्रमश: देवोपम गोकर्ण[2] और असुरोपम धुंधुकारी अथवा इसी प्रकार के अन्य मानवीय प्रतीकों का उल्लेख मिलता है।

देवासुर-संग्राम, महेन्द्र-विजय तथा यूपोपम जर्जर-ध्वज के साथ-साथ यदि हम वेद व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने का नाटक का नाट्यशास्त्रोक्त उद्देश्य भी सामने रक्खें तो यह बात सहज में ही स्पष्ट हो जाती हैं कि जिस नाटकीय परंपरा के लिये भारत का नाट्यशास्त्र लिखा गया, उसका जन्म, परिवर्द्धन तथा परिष्कार वैदिक दर्शन, साहित्य तथा कर्मकांड के उदात्त और ओजस्वी उत्संग में हुआ। आगे चलकर रंगमंच के निरूपण में यह भली भांति दर्शाया गया है कि नाट्य-शास्त्र में वर्णित रंगशाला के स्वरूप का निर्धारण भी वैदिक यज्ञ-मंडपों के अनुकरण पर ही हुआ और नाटकीय प्रयोग से संबंध रखने वाली अनेक धार्मिक क्रियाओं का उद्भव भी वैदिक कर्मकांड से हुआ।

परंतु उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि संस्कृत-नाटक तात्त्विक दृष्टि से सदा वैसा ही बना रहा जैसा वैदिक काल में था। परिवर्तन-चक्र में पड़कर जिस प्रकार वैदिक यज्ञ तथा उसके कर्मकांड बदलते गये वैसे ही उनसे संबद्ध नाटक का भी रूपांतर होता गया। इस संबंध में सबसे अधिक उल्लेखनीय वह "वेदवाद" है, जिसमें उत्तरोत्तर जटिलता को प्राप्त होने वाले वैदिक यज्ञों में हिंसा तथा भोगैश्वर्य—लिप्सा का प्राधान्य हो गया और जिसका विरोध न केवल बार्हस्पत्य, जैन और बौद्ध आदि तथाकथित दर्शनों ने किया, अपितु श्रीमद्भगवद्गीता तथा उससे भी पहले कुछ ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों, तथा उपनिषदों ने भी किया।[3] शताब्दियों तक चलने वाले इस विरोध के परिणामस्वरूप ही नाटक को कर्मकांड से छुटकारा पाने का अवसर मिला और उसे स्वतंत्रता की वायु मे पल्लवित और पुष्पित होने का सौभाग्य

१—वज्रो यूपः, शत० ३।६।४।१९

२—श्रीमद्भागवत-माहात्म्यम्।

३—द्रष्ट० 'दि कंसेप्ट ऑव वेदिक सोश्यालॉजी'।

प्राप्त हुआ। अतएव प्राचीन भारतीय नाटक को विकास का सबसे अधिक उपयुक्त अवसर बौद्ध काल में मिला प्रतीत होता है। इसका कारण कदाचित् यह था कि बौद्ध धर्म के प्रचार से पहिले जैन धर्म तक ने श्रौत कर्मों का ऐसा संपूर्ण त्याग न कर पाया था जैसा बौद्ध धर्म ने किया।

बौद्ध काल में यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं से पृथक् नाटक का स्वतंत्र रूप हमारे सामने आने लगता है। बौद्ध-साहित्य में हमें इसके अनेक प्रमाण मिलते है। ललितविस्तर में बिंबसार द्वारा दो नाग राजाओं के सम्मान में नाटक के आयोजन का उल्लेख मिलता है। आगे यह भी उल्लेख है कि स्वय बुद्ध की आज्ञा से राजगृह में एक नाटक खेला गया था। बुद्ध के शिष्य मौद्गलायन और उपतिस्व ने नाट्य-कौशल का प्रदर्शन अनेक लीलाओं में किया। उस समय कुवलया नाम की एक अत्यंत सुन्दरी नटी थी जिसका अभिनय-कौशल अत्यंत प्रसिद्ध हो गया था। कुछ बौद्ध भिक्षु उसके प्रलोभन में पथभ्रष्ट हो गये, अत: बुद्ध ने उसे कुरूप वृद्धा स्त्री बनाकर उसके पाप का दंड दिया। उसने पाप का प्रायश्चित किया और भगवान बुद्ध की कृपा से वह सतपद को प्राप्त हुई।

रिज डेविड्ज[1] के अनुसार प्रारंभिक बौद्ध-काल में ही उत्कृष्ट भावी नाटक का पूर्व रूप पाया जाता है और सुत्त-साहित्य में मनोविनोद के अन्य साधनों के साथ नाटकीय अभिनयों का भी उल्लेख मिलता है।[2] यद्यपि 'समाज'[3] के अंतर्गत आनेवाले तथा ऐसे ही अन्य नाटकीय अभिनयों को भिक्षुवर्ग निंद्य समझता था, परंतु कुछ ऐसे धार्मिक और आध्यात्मिक नाट्य-प्रयोग भी होते थे जिनको जे० कार्पेंटियर ने 'लघु-नाटक' (Little dramas) कहा है। इसी श्रेणी में वे 'एक चा समाजा साधुमता' आते हैं जिनका प्रचलन अशोक ने हिंसा-परक 'समाजों' के स्थान पर करवाया था और जिनमें ज्योतिष्कंध आदि का प्रदर्शन भी होता था।[4] किसा-गोमती,

---

१—'बुद्धिस्ट इंडिया', पृ० ११९

It is interesting to notice that just as we have evidence at this period of the first steps having been taken towards a future Epic, so we have evidence at the first steps towards a future drama—the Production before a tribal concourse on fixed feast days of shows with scenery, music, and dancing.

२—विंटरनित्स, 'हिस्ट्री ऑव इंडियन लिट्रेचर', ज़िल्द २

३—इंडियन ऐंटीक्वेरी, १९१३, पृष्ठ २५५–२५८, डा० भंडारकर का लेख।

४—द्रष्ट० गिरनार शिला-लेख; तुल०—हेमेंद्रनाथ दासगुप्त कृत 'दि इंडियन स्टेज', पृष्ठ ३७-३८,

अहिपारक, वेसंतर आदि के जातक-कथानकों की नाटकीयता इतनी लोकप्रिय हुई[१] कि उनके प्रयोगों से न केवल भारतीय जनता का मनोरंजन हुआ, अपितु विदेशी बौद्ध-समाज में भी उनके अभिनय को शताब्दियों तक आदर मिलता रहा। खेद की बात है कि कुछ साम्राज्यवादी पाश्चात्य विद्वानो ने इस बौद्धकालीन नाट्य-विधि की अवहेलना करते हुए यह निष्कर्ष निकालने का असफल प्रयत्न किया है कि बौद्ध-काल में नाटक नहीं हुए। परतु बौद्ध ग्रथों में भिक्षुओं के लिये नाटक देखने का निषेध होना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि उस समय नाटकीय अभिनय इतने अधिक व्यापक और लोकप्रिय थे कि वीतराग भिक्षु भी उनकी ओर आकर्षित होते थे।[२] कालिदास से भी बहुत पूर्व अश्वघोष जैसे समादृत बौद्ध महाभिक्षु द्वारा 'सारिपुत्रप्रकरण' के समान नाटकों की रचना, ई० पू० तृतीय शताब्दी में सीता-वेंगा और जोगीमारा की गुफाओं में नाट्यशालाओं का होना,[३] तथा उससे भी पूर्व नाट्य-शास्त्र में इसी प्रकार की नाट्यशालाओं का वर्णन देखकर यह भली भांति प्रमाणित हो जाता है कि बौद्ध-काल में नाटक उक्त वेदवादी प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से विकसित होता रहा और उसके ऊपर कट्टरपंथी बौद्धों के निषेध का कोई प्रभाव न पड़ा।

जातक कथाओं में, जो ईसा से तीसरी शती पूर्व की मानी जाती हैं, 'नट', 'नाटक' 'समाज' और 'समाज-मंडल' आदि के अनेक उल्लेख प्राय: साथ-साथ मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में 'समाज' शब्द नाटकीय प्रयोगों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि कणवेरा जातक के अंतर्गत भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म की उस मनोरंजक कथा से प्रमाणित होता है जिसमें उक्त शब्दों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है।[४] इस कथा के अनुसार जब काशी में ब्रह्मदत्त का राज्य था, उस समय

१—विंटरनित्स कृत 'हिस्ट्री ऑव इंडियन लिट्रेचर', जि० २, पृष्ठ ५८,१४१,१५२; तुल०—दिव्यावदान २८-२९, और दिग्घनिकाय (रिज़ डेविड्ज़ और कार्पेंटर द्वारा संपादित) दूसरा भाग, भूमिका पृ० ८ और पृ० ३ पर द्वितीय टिप्पणी।

२—दिग्घनिकाय का 'ब्रह्मजाल सुत'; तुल० विंटरनित्स, हि० इं०, लि०, पृ० ३६

३—डा० थ्योडोर ब्लाश की रिपोर्ट, आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, १९०३—४; ना० शा०, ६।९—११

४—रिज, डेविड्ज 'बुद्धिस्ट इंडिया', पृ० ११७—१२०; विंटरनित्स, हि० इं० लि०, जि० २, पृ० ५८, १४१,१५२

बोधिसत्व ने एक प्रसिद्ध डाकू के रूप में जन्म लिया। उनके आतंक से प्रजा की रक्षा के लिये राजा ने उन्हें प्राणदंड दिया। काशी में राजा की प्रेयसी श्यामा नाम की एक गणिका थी जिसका उस पर बड़ा प्रभाव था। पर वह बोधिसत्व के प्रणय-पाश में बंध गयी थी। उसने अपने प्रेमी एक धनी और सुन्दर वणिक-युवक को एक हजार मोहरें देकर अधिकारी के पास भेजा। परिणामस्वरूप बोधिसत्व तो श्यामा के पास भेज दिये गये और उनके स्थान पर उस गणिक का वध किया गया। तत्पश्चात् श्यामा ने अपना व्यवसाय छोड़ दिया और अहर्निश बोधिसत्व के साथ निवास करने लगी। बोधिसत्व को शीघ्र ही यह आशंका हुई कि वणिक की भांति कालांतर में उन्हें भी वैसा ही कुफल भोगना पड़ेगा, अतः उन्होंने श्यामा का परित्याग कर दिया।

उनके चले जाने के बाद विरहिणी श्यामा अत्यंत अधीर हो उठी और उसने उन्हें प्राप्त करने के सब संभव उपाय करने का संकल्प किया। उसने कुछ नटों का बुलाय और उन्हें पुष्कल द्रव्य प्रदान किया। नटों के यह पूछने पर कि उनको क्या सेवा करनी होगी, उसने कहा—

तुम्हाकं अगमनत्थानं
नमर' त्थि तुम्हें गाम निगम राजधानिय
गन्ता समाज्जं कत्वा समज्ज मंडले
पठाममेव इमं गीतं गायेप्याथा ते
बाराणसि तो निक्खमित्वा तत्था तत्था
समाज्जं करोन्ता एकं पच्चन्त गामकं गमिसी
ते तथा समाज्जं करोता पठममेव गीतकं गायिस।

अर्थात् ऐसा कोई स्थान नहीं जो तुम्हारे लिये अगम्य हो, अतः तुम प्रत्येक गांव और नगर में जाना और समाज मंडल में भिन्न-भिन्न प्रकार से समाज करके लोगों की भीड़ को एकत्र करके यह गीत गाना—'श्यामा जीती है और एकमात्र तुम्हारे लिये जीती है। वह तुमसे प्रेम करती है और केवल तुम्हीं से प्रेम करती है।'

यहाँ पर अभिनेताओं को 'नट' नाटक को 'समाज' और रंगशाला को 'समज्ज-मंडल' कहा गया है।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित उल्लेखों से भी सिद्ध होता है कि नाटकों के अभिनय स्वतंत्र रूप से भिन्न-भिन्न अवसरों पर मनोरंजन तथा आनंदोत्सव के लिये हुआ करते थे —

(१) "दत्व नाटकानि उपश्य पेस्साम, भद्दं पुतस्स ते रज्ज मल"—अर्थात तुम्हारे पुत्र को राज्य प्रदान करते हुए हम नाटकीय समारोहों की आयोजना करेंगे।[1]

(२) "राजपुत्तम अभिसिंचित्व नाटकानि स्म पच्चुस्य-पेस्सास"—अर्थात् राजाने अपने पुत्र के अभिषेक की इच्छा की और उसके मनोरंजन के लिये नाटकों का आयोजन किया। (उदय जातक)

(३) "नाग लोग जनसमूह का दो कारणों से निरीक्षण करते हैं, या तो गरुड़ के लिये अथवा अभिनेताओं के लिये।"[2]

(४) "सफलता प्राप्त करनेवाले चार में से एक वह होता है, जो अभिनेता के कौशल को जानता है।"[3]

बौद्ध-काल में नाटक के जिस स्वतंत्र और समुन्नत स्वरूप का उल्लेख ऊपर किया गया है उसका प्रारंभ हमको बहुत पहले तभी से मिलने लगता है जबसे उपर्युक्त 'वेदवाद' के प्रति विद्रोह अधिकाधिक प्रबल हो चलता है। रामायण और महाभारत में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं—जिनसे इस प्रकार के नाटकों का उस काल में होना सिद्ध होता है। वाल्मीकि-रामायण में अयोध्याकांड के अंतर्गत हम देखते हैं कि राम-वन-गमन और दशरथ-मरण के प्रसग में, अपने मातुल-गृह में निवास करनेवाले तथा अयोध्या की परिस्थिति से अनभिज्ञ किंतु अपशकुनों तथा दुःस्वप्नों आदि के कारण अत्यन्त उद्विग्न भरत के मनोविनोद के लिये उनके मित्रों ने जो आयोजन किये हैं उनमें एक नाटक भी है—

वादयन्ति तदा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च॥ (२।६९।४)

भरत के अयोध्या लौट आने पर मार्कण्डेय आदि ऋषियों ने अराजकता के दुष्परिणाम सूचित करते हुए नाटकों का उल्लेख किया है—

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्द्धन्ते राष्ट्रवर्द्धनाः॥ (२।६५।१५)

इसके अतिरिक्त बालकांड के अन्तर्गत अयोध्यापुरी का वर्णन पढ़ने से मालूम होता है कि नगर में स्त्रियों के लिये पृथक् अनेक रंगशालाएँ थीं।[4] अतः प्रसाद जी का यह कहना ठीक ही है कि 'ये नाटक केवल पद्यात्मक ही रहे

१—कुश जातक, पृ० २०, सं० ५३१

२—जातक, भाग ६, १०२ (पु० १२, सं० ५४३)

३—वही (पु० ३, सं० २८७)।

४—वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्। (वा० रा० १।५।१२)

हों, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। संभवतः रामायण-काल के नाटक-संघ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय वस्तु थे।' यदि व्यामिश्रक का अर्थ मिश्रित भाषाओं में लिखा हुआ नाटक मानना ठीक हो,[1] तो वे नाटक केवल खेले ही नहीं पढ़े भी जा सकते थे, जैसा राम द्वारा नाटकों के स्वाध्याय के विवरण से प्रकट है——

श्रैष्ठयं शास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च। (वा० रा०, २।१।२७)

महाभारत में ही हमें विराट-पर्व में एक विशाल रंगमंच का उल्लेख मिलता है। इसी पर्व के अंतर्गत अभिमन्यु-उत्तरा-विवाह के प्रसंग में नटों, वैतालिकों, सूतों और मागधों के साथ-साथ नटों का भी नाम आया है, जिन्होंने सम्मानित अतिथियों का अनेक प्रकार से मनोरंजन किया। वन-पर्व में धर्म के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने बतलाया है कि कीर्ति के लिये हमने समय-समय पर नट-नर्तकों को द्रव्य प्रदान किया है।

संभवतः इसी काल के आसपास नाट्य-कला पर ग्रंथ भी लिखे जाने लगे थे जैसा कि ईसा से आठ या सात सौ वर्ष पूर्व पाणिनि द्वारा उल्लिखित कृशाश्व और शिलाली के नट-सूत्रों से प्रतीत होता है। यदि शतपथ ब्राह्मण (१३,५।३।३) के शिलाली और पाणिनि के शिलाली में कोई अंतर नहीं है तो नाट्य-कला के शास्त्रीय अध्ययन का प्रारंभ ब्राह्मण-काल से ही मानना पड़ेगा।[2] इस प्रसंग में कीथ[3] का यह मत कि यहाँ नट का अर्थ अभिनेता नहीं है, मानना ठीक नहीं जँचता। कारण, नाटक के साथ 'नट' शब्द का जो अर्थ बौद्ध-साहित्य, नाट्य-शास्त्र तथा उसके परवर्ती संस्कृत-ग्रंथों में लिया जाता है वही अर्थ रामायण, महाभारत तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में क्यों न लिया जाय, जब कि इन ग्रंथों का समय उक्त साहित्य में से प्राचीनतम ग्रंथों से बहुत पहले का नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त जैसा कि कहा जा चुका है, स्वयं रामायण में ही नाटक, नट और वधू-नाटक-संघों का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि नाट्य शास्त्र की भाँति पाणिनि और महाभारत से पहले रामायण-काल में भी नट शब्द का अर्थ नाटक से संबंध रखने वाला ही अधिक स्वाभाविक है। यदि कीथ[4] महोदय के कथनानुसार नट-सूत्रों को केवल मूक अभिनय का ग्रंथ मान लिया जाय तो यह बात समझ में नहीं आती कि इस प्रकार के सूत्रों

१—द्रष्ट० 'इंडियन स्टेज' पृ० २८, 'संस्कृत ड्रामा' पृ० २९

२—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४; तुल० कु० गोदावरी वासुदेव केतकर, 'भारतीय नाट्य-शास्त्र', पृ० २-३

३—सं० ड्रा०, पृ० २८ ४—वही।

की परंपरा आगे क्यों नहीं चली ? इसके विपरीत यदि इन नट-सूत्रों को नाटचकला के ग्रंथ माना जाय, तो हमें यह परंपरा नाटचशास्त्र, दशरूपक तथा नाटच-दर्पण आदि में उत्तरोत्तर विकसित होती हुई बराबर मिलती चली आती है।

शतपथ ब्राह्मण से पाणिनि के समय तक नाटचकला पर ग्रंथरचना को स्वीकार करने में यह बात न भूलनी चाहिए कि ये ग्रंथ कर्मकांड-मुक्त नाटकों पर ही अधिक लागू होते होंगे, क्योंकि इस समय तक श्रौतकर्म-विरोधी आंदोलन वैदिक कर्मकांड को दूर करने में इतना सफल न हो सका था जितना बौद्ध-काल में हुआ, जब कि जैसा ऊपर लिखा गया है, नाटक का स्वतंत्र रूप से प्रचार पूरी तरह से हो चला था। कर्मकांड-मुक्त बौद्धकालीन नाटकों की श्रेणी के अन्य शास्त्रीय नाटकों का उल्लेख हमें वात्स्यायन के कामसूत्र मे मिलता है, जिसका समय ई० पू० पाँचवीं से तीसरी शती तक माना जाता है—

(१) गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम् .. नाटकाख्यायिका दर्शनम्। (कामसत्र १।३।१६)

(२) पक्षस्य मासस्य व प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजानियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता। आगन्तूनां च कृतसमवायानां पूजनमभ्युपपत्तिश्च। इति गणधर्म्मः। (वही, १।४।२१)

अर्थात् पक्ष या मास के किसी भी नियत दिवस पर सरस्वती-भवन में नियुक्त जनों का समाज हो और आगंतुक कुशीलव इन लोगों को प्रेक्षणक (नाटकीय प्रयोग) प्रदान करें। दूसरे दिन इनको नियत रूप से पुरस्कार दिया जाय। व्यसन और उत्सव में इन लोगों की पारस्परिक एककार्यता हो। आगंतुकों तथा कृतसमवाय लोगों का पूजन तथा सत्कार हो। यह गणधर्म है।

इस अवतरण से यह प्रतीत होता है कि सुरुचि-संपन्न शिष्टजनों (जिनके लिए ही यथार्थ में कामसूत्र लिखा गया है) के लिये सरस्वती-भवन नामक कला-मंदिर में स्थायी रूप से नियुक्त कुछ जनों द्वारा समाज (नाटकीय प्रयोग) होते रहते थे। इन समाजों में कभी-कभी अपने नाटकीय कौशल का प्रदर्शन (प्रेक्षणक) करने के लिये बाहर से कुशीलवों को भी बुलाया जाता था, जिनके लिए कदाचित् यह कला आजीविका का साधन थी। जैसा इनके नाम से ही प्रकट है, इस कला द्वारा पैसे कमाते-कमाते संभवतः इनके शील (चरित्र) में भी दोष आ जाया करता था। नटों का यह चारित्रिक विकार उस व्यापक चारित्रिक

अपकर्ष का परिणाम भी हो सकता है जो डा० फतहसिंह के अनुसार किसी बाह्य संपर्क के कारण हमारे समाज में प्रविष्ट हुआ—"आर्य-जाति के इतिहास में कोई ऐसी घटना अवश्य हुई प्रतीत होती है जिसके कारण उसको अपनी संस्कृति-रक्षा के लिए कुछ सामाजिक प्रतिबंधों की सृष्टि करनी पड़ी।........ इस प्रश्न पर अत्यंत गंभीर विचार करने के पश्चात् मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि बहुत प्रचीन काल में ही हमारे देश में बाहर से कोई ऐसी जाति आई जो वेश्या-वृत्ति, पशु-बलि आदि के साथ-साथ समाज मे वर्गवाद तथा जाति-प्रथा भी लाई, क्योंकि मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूँ कि ये बुराइयां वैदिक समाज मे नहीं थीं।....... इस परिवर्तन का प्रभाव काव्य मात्र पर पड़ा और नाट्य को तो इसने पूर्णतया बदल दिया। अतः नट, नर्तक और शैलूष आदि वैदिक काल में पवित्र लोग समझे जाते हैं, परंतु रामायण तथा महाभारत में वही गर्हित तथा आचार-भ्रष्ट समझे जाते हैं। नाट्य के वातावरण की यह विकृति निश्चित् रूप से सूत्र-काल में प्रारंभ हो गई थी, क्योंकि नृत्य, गीत, वाद्य आदि कौषीतकी ब्राह्मण में आदरणीय तथा पवित्र कलाएं हैं, वही पारस्कर गृह्य-सूत्र में द्विज वर्गों के लिये सर्वथा त्याज्य समझी गई हैं।[१] इसी लिए प्रतिदिन इनका संसर्ग हानिकारक समझकर केवल पक्ष या मास में कभी-कभी बुलाने की व्यवस्था की जाती थी।

चारित्रिक दुर्बलता के कारण कुशीलवों का अति संसर्ग अस्पृहणीय होते हुए भी उनकी कला के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए न केवल उनको पुरस्कार प्रदान किया जाता था, अपितु स्थायी रूप से नियुक्त अभिनेताओं से यह भी आशा की जाती थी कि वे व्यसन और उत्सव मे कुशीलवों के साथ पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति का बर्ताव करें। कुशीलवों के प्रति यह अभ्युपपत्ति और पूजा इसलिये आवश्यक थी कि नियुक्त अभिनेताओं तथा कुशीलवों का गण (वर्ग) एक ही था और इसलिये परस्पर प्रीति और सहानुभूति का व्यवहार रखना गणधर्म था।

कामशास्त्रीय अवतरण मे उल्लिखित नियुक्त अभिनेताओं के समाज और कुशीलवों के प्रेक्षणक का अलग-अलग उल्लेख होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मकांड से मुक्त होने पर नाटक की लौकिकता और लोकप्रियता के अधिक बढ़ने के साथ ही अभिनेताओं में चारित्रिक दुर्बलता के लिये अवसर भी अधिक होने लगे। संभवतः इसी दोष से नाटक को मुक्त करने के लिये शिष्ट जनों ने व्यवसायियों के हाथ से निकालकर उसे एक नया रूप दिया। परन्तु इन दोनों प्रकार के अभिनेताओं की 'एककार्यता' का परिणाम आगे चलकर नाट्यकला

१—कामायनी-सौंदर्य, पृ० २२-२३

के लिये अस्वथ ही हुआ प्रतीत होता है। यही कारण हैं कि 'अर्थशास्त्र' में अभिनय और नाट्य का निंदित तथा ब्राह्मणो के लिये त्याज्य माना गया है। गिरनार शिलालेख में उल्लिखित 'न च समाजो कर्त्तव्यो बहुकम् हि दोषम्', नाटक की इसी विकृति की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। अशोक द्वारा इसके परिहार का जो उल्लेख हमें उसके शिलालेखों में मिलता है वह वस्तुतः भारतीय समाज की उस व्यापक परिष्कार-प्रवृत्ति की एक झलक मात्र है, जिसको एक विद्वान् के शब्दों में 'साहित्यवाद' कह सकते हैं[1] और जिसके द्वारा नाट्य आदि सभी सामाजिक प्रवृत्तियों की विकृति को दूर कर उसे अ-हित से स-हित बनाने का प्रयत्न किया गया था। इस प्रकार नाटक का नैतिक परिष्कार करने की जो प्रवृत्ति हमें कामसूत्र और अशोक के शिलालेखों में मिलती है उसका सर्वोत्तम रूप हमें भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है, जिसमें किन्हीं अशों में हम फिर से मूल वैदिक (वेदवादी नहीं) कर्मकांड की उदात्त नैतिकता और रसवादी नाट्यादर्श की आध्यात्मिकता का पुनरुद्धार होते देखते हैं। नाट्यावतार नामक छत्तीसवें अध्याय में एक आलंकारिक वर्णन द्वारा स्पष्ट बतलाया गया है कि मंत्रादि द्वारा देवार्चनयुक्त पूर्वरंग वाले स-हित नाट्य से जहाँ लोक-कल्याण, यश और मंगल की वृद्धि होती है वहाँ दुराचारपूर्ण अश्लील हास्य और प्रहसन का आश्रय लेने वाले नाट्य से सर्वथा पतन तथा अधोगति ही निश्चित है। इस प्रकार के नाट्य का अभिनय करनेवाले, भरत मुनि के अनुसार 'निराहूता' होकर नाट्यवेद को उस गर्त मे गिराते हैं जिससे नहुष द्वारा उसके पुनरुद्धार की कथा नाट्यशास्त्र में कही गयी है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यकर्म एक 'ब्रह्मभावित' महान् धर्म है। यही कारण है कि नाट्य के विभिन्न अंगों में भारतीय नाट्यशास्त्र में सभी के लिये वेदानुकूलता देने का प्रयत्न होने पर भी केवल रूपक ही अपनी स्थिति को अक्षुण्ण रख सका और रूपको में भी उन्हीं प्रकारों का प्रचार अधिक हुआ जो सुरुचि, सदाचार तथा मर्यादा को अच्छे प्रकार से निभा सकते थे। अतएव नाट्यशास्त्र में 'समवकार' आदि के लिये बहुत से 'बन्ध-कुटिलानि' वर्जित कर दिये गये और प्रहसन में केवल 'लोकोपचार युक्त वार्ता' को स्थान दिया गया।[1]

इसी मर्यादावादी प्रवृत्ति को भास-नाटकों के कथानकों से लेकर महाभाष्य में उल्लिखित कंसवध और बलिबंध, अश्वघोष कृत 'सारिपुत्र-प्रकरण' तथा कालिदास के नाटकों तक उत्तरोत्तर निखरना हुआ देखा जा सकता है। नाट्य-साहित्य के इस उत्थान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कर्म-

१—वही, पृष्ठ २४-२५,

कांड-युक्त और कर्मकांड-मुक्त दोनों प्रकार के नाटकों के दोषों के परिहार की क्षमता विद्यमान है। यही कारण है कि इस उत्थान के फलस्वरूप संस्कृत के श्रेष्ठतम नाटकों की रचना हुई और कालिदास को भाँति ही शूद्रक, हर्ष, भवभूति, विशाख, भट्ट नारायण, मुरारि, राजशेखर तथा क्षेमीश्वर आदि अनेक नाटककार हुए जिनकी कृतियाँ प्रत्येक दृष्टिकोण से संस्कृत नाट्य-साहित्य में उच्च कोटि की मानी जा सकती हैं, और जिनमें से कुछ की गणना तो विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्नों में की जा सकती है।

कालान्तर में नाट्य-परिष्कार की उक्त प्रवृति ही संस्कृत-नाटक के ह्रास का कारण बन गई। नाट्यशास्त्र ने नाट्यकला के विभिन्न अंगों का जो शास्त्रीय विवेचन प्रारंभ किया था, वह आगे भी चलता रहा, और एक समय आया जब कि इस प्रकार के शास्त्रीय ग्रंथ नाटककारों का पथ-प्रदर्शन करने के स्थान पर उनकी उस स्वाभाविकता का ही अपहरण करने लगे, जो किसी भी कलाकार के लिए अपनी प्रतिभा की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक है। भारत के इतिहास का यह वह समय था, जब कि भारतीय संस्कृति ने विदेशियों से आत्मरक्षा करने के लिए रूढ़िवाद का अस्त्र अधिक दृढ़ता से अपना लिया था, जिसका सबसे अच्छा प्रमाण हमें अलबेरूनी के भारत वर्णन में मिलता है।[1] अलबेरूनी इस बात पर आश्चर्य प्रकट करता है कि जो भारतीय जाति एक समय अपनी उदारता के लिये प्रख्यात थी, वह इतनी संकीर्ण विचार वाली और रूढ़िवादी कैसे हो गई कि अपनी भाषा और अपने ज्ञान तक को भी दूसरों के स्पर्श से बचाने लगी। संस्कृत-नाटक के ह्रास का सबसे बड़ा कारण यह हुआ कि इस समय से बहुत पहले ही संस्कृत-भाषा और साहित्य के साथ, साथ ही संस्कृत-नाटक का क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया था और उसका संबंध जनसाधारण से छूट कर केवल शिष्ट वर्ग से ही रह गया था। जनसाधारण की भाषा और विद्वानों की भाषा का अंतर निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था, दैनिक जीवन के व्यवहार की भाषा और नाटक की भाषा के बीच की खाई गहरी ही होती जा रही थी। ८०० ई० के लगभग देशी भाषाओं ने साहित्यिक रूप ग्रहण कर लिया था. जिसका पता हमें उक्तकाल के उपलब्ध अनेक प्रकार के साहित्य से मिलता है। फिर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि इस काल के कई शताब्दियों बाद तक भी बहुत बड़ी संख्या में संस्कृत नाटक लिखे जाते रहे। शिष्ट वर्ग की रुचि को ध्यान में रख कर लिखे गये इन नाटकों में नाटकीयता की अपेक्षा काव्यात्मकता अधिक होती थी और उनमें

१. अलबेरूनी का भारत

वैचित्र्य की भरमार करने के लिये अनेक प्रकार के रूढ़ प्रयोग किए जाते थे। इन सब बातों के परिणामस्वरूप संस्कृत-नाटकों की नाटकीयता का ह्रास तो हुआ ही, उसका संबंध रंगमंच से भी उत्तरोत्तर विच्छिन्न होता गया। यद्यपि इस ह्रास–काल में रूपकों के उन प्रकारों की भी सृष्टि हुई जो विकास-काल में लुप्त हो चुके थे और जिनका लक्षण केवल नाटचशसात्र से प्रारम्भ होने वाली शास्त्रीय ग्रंथों की परम्परा में मिलता है, परंतु फिर भी जहाँ नाटचशास्त्र के अंतर्गत इन रूपकों का उल्लेख इस बात को प्रमाणित करता है कि उस समय ये सभी प्रकार के रूपक लोकप्रिय रंगमंच पर खेले जाते थे, वहाँ इस ह्रास-काल में इनके निर्माण से केवल उनके लेखकों की पाण्डित्य–प्रदर्शन की प्रवृत्ति और रूढ़िप्रियता ही सिद्ध होती है।

इस ह्रास-काल में लिखे जाने वाले नाटकों की गतानुगतिकता तथा रूढ़िवादिता का परिणाम हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओ के नाटक के लिए अच्छा न हुआ। इसका सबसे पहला परिणाम यह हुआ कि चौदहवीं शती तक हिन्दी-नाटक को सर उठाने का भी अवकाश न मिला और चौदहवीं शताब्दी में जब विद्यापति के पारिजात-हरण और रुक्मिणी-परिणय में हिन्दी ने नाटक-साहित्य को निर्माण करने का उपक्रम भी किया तो वह नाटकीय गीतों तक ही पहुँच पायी, पात्रों के कथनोपकथन के लिए संस्कृत अथवा प्राकृत का ही आश्रय लेना पड़ा। इसके पश्चात् मैथिली, हिन्दी और ब्रजभाषा में यद्यपि लगभग सौ नाटकों का पता चलता है, फिर भी नाटक को सार्वजनिक और लोकप्रिय रंगमंच तक पहुँचने के लिए संभवतः भारतेन्दु-काल तक प्रतीक्षा करना पड़ा।

परंतु इस प्रसंग में यह सोचना भूल होगी कि उस समय हिन्दी में इन साहित्यिक नाटकों के अतिरिक्त अन्य कोई नाटकीय परम्परा ही न थी। वस्तुतः ये नाटक तो उस धारा के अन्तर्गत हैं जिसका प्रारंभ ऋग्वेद के श्येन-सूक्त,[1] पुरूरवा-उर्वशी आदि संवाद-सूक्तों में हुआ और जो सुपर्णाध्याय जैसे रूपों को प्राप्त होती हुई संस्कृत-नाटक के विकास और ह्रास के बीच से अविरल प्रवाहित हो रही है। वैदिक संवाद-सूक्तों में उपलब्ध वीरगाथात्मक परम्परा भी रामायण, महाभारत आदि के पाठ अथवा शौभिकों के मूक अभिनय तथा ग्रन्थिकों के प्रदर्शन के मध्य से होती हुई मूक अभिनय, छद्म अभिनय, झांकी, कथा-वाचन, काव्यात्मक संवाद आदि अनेक प्रकारों द्वारा होने वाली राम और कृष्ण की लीलाओं के रूप में आज भी पायी जाती है। इसी प्रकार सूक्त, माया-भेद-सूक्त, अक्ष-सूक्त, यम-यमी-संवाद आदि में पाई जाने वाली रहस्यवादी तथा

१—ऋग्वेद ४–२६–२७

आध्यात्मिक नाट्य-परम्परा में जो प्रवृत्ति दिखायी देती है, उसी को हम अशोक कालीन बिहारों[1], तांत्रिक प्रयोगों तथा कृष्णरास की योगपीठ, निकुञ्ज, गोष्ठ तथा नंद-भवन की लीलाओं के अनुकरण के रूप में वर्तमान पाते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक स्वाँग, सरापा, नौटंकी, तमाशा आदि भिन्न-भिन्न नामों से व्यवहृत होने वाले तथा जनसाधारण का मनोरंजन करने वाले नाटकीय प्रयोगों में जो परम्परा मिलती है, उसका भी पूर्वरूप अवश्य रहा होगा। संभवतः वैदिक काल से लेकर रामायण और महाभारत काल तक पाये जाने वाले सूत[2], शैलूष[3], कामसूत्र आदि में वर्णित कुशलीव तथा हर्ष के समय युवक बाण को आकृष्ट करने वाले ग्रामीण अभिनेताओं द्वारा पोषित नाट्य-परम्परा अपने शुद्ध लौकिक रूप में पण्डित-मण्डली के बाहर ग्रामीण जनता के बीच पनपती हुई उपर्युक्त नाट्य-प्रयोगों में प्रकट हुई। अतः हिन्दी-नाटक की उत्पत्ति और विकास का निरूपण करते समय इन सभी परम्पराओं पर दृष्टि रखना आवश्यक है।

ऊपर के विवेचन में विभिन्न नाट्य-परम्पराओं की जो आधारभूत प्रवृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं, हिन्दी-नाटक से संबंध दिखाने के लिए उनका हम दो भागों में विभाजन कर सकते है—(१) सुसंस्कृतजनों कीपरम्परायें, तथा (२) साधारण जनता में प्रचलित परम्परायें। प्रथम प्रकार की नाटकीय परम्पराओं के प्रेक्षण के केवल वे ही लोग अधिकारी थे जो आध्यात्मिकता तथाकलामर्मज्ञता आदि से युक्त होते थे। इसके विपरीत दूसरी परम्परा जिसका प्रसार जन-साधारण के बीच होता रहा, इस प्रकार के बंधनों में बँध कर सकुचित नहीं होने पायी। ब्रजभाषा-काल में सुसंस्कृत परम्परा के अन्तर्गत एक तो साहित्यिक नाटक आते हैं, जिनकी सृष्टि सस्कृत-नाटकों को आदर्श मान कर संस्कृत-भाषा-प्रेमियों के बीच हुई, इन नाटको के लेखक प्रायः संस्कृत-भाषा जानने वाले साधु और कवि होते थे, जिससे उनका प्रचार भी अत्यन्त सीमित रहा होगा। दूसरे इस परम्परा में भगवान कृष्ण की उन रहस्यमयी लीलाओं का समावेश होता है, जिन्हें भक्त गण 'रास' के नाम से पुकारते हैं। रास के रहस्य को समझने तथा उसके यथार्थ रस का आस्वादन करने के लिए प्रेक्षकों के लिये न केवल उच्च कोटि की सहृदयता वांछित थी, जो साहित्यिक नाटकों का रस लेने के लिए

१—देखिये भंडारकर कृत, 'अशोक' का परिशिष्ट

२-३—वाजसनेयि संहिता यजुर्वेद ३०।६ (नृत्तिभ्य सूतम्, गीताय शैलूषम्); तुलना करो ऋग्वेद और वा० रा० अयोध्याकाण्ड।

पर्याप्त समझी जाती थी, अपितु उत्कट भगवद्भक्ति, विषय-पराङ्मुखता, और समुन्नत आध्यात्मिक साधना भी परमावश्यक थी। वस्तुतः नाट्यशास्त्र में जिस रस-निष्पत्ति की बात कही गयी है, वह इन्हीं दो प्रकार के नाटकों से संबध रखती है। जन-साधारण की नाट्य-परम्परा की पहुँच रस के इस ऊँचे आदर्श तक नहीं हो सकती। इसके अन्तर्गत एक ओर तो वीरगाथात्मक नाट्य-प्रयोग आते हैं और दूसरी ओर स्वाँग, सरापा, नौटंकी जैसे लोकप्रिय नाटकीय प्रदर्शनों का समावेश होता है। हिन्दी के साहित्यिक नाटकों के स्वरूप को भली प्रकार समझने के लिए ऊपर वर्णित नाटक की सभी परम्पराओं को अच्छी प्रकार जान लेना चाहिए। अतः पहले इन सभी परम्पराओं का स्वरूप स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

२

मध्यकालीन लोकधर्मी नाट्य-परंपरा

संस्कृत-नाटक मध्ययुग में ह्रास को प्राप्त हो गया था। यह भारतीय इतिहास का वह समय था, जब शताब्दियों तक सुख-सम्पत्ति का अबाध उपभोग तथा अन्य ऐतिहासिक कारणों से राष्ट्र के जीवन में रूढ़िप्रियता अंकुरित होने लगी थी। ऐसे ही समय मुसलमानों के आक्रमण भी होने प्रारंभ हो गये, जिनके परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति को विदेशियों से अपनी रक्षा करने के लिए रूढ़िवाद का अस्त्र अधिक दृढ़ता से ग्रहण कर लेना पड़ा। इस परिस्थिति का प्रतिकूल प्रभाव सभी काव्य-कलाओं पर पड़ा और नाटक के सामने तो विशेष रूप से जीवनमरण की समस्या ही उठ खड़ी हुई। कारण, नाटकों के आचार्य और लेखक भरत द्वारा निर्धारित वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक अर्थात् सार्वजनिक बनाने के नाटक के प्रधान उद्देश्य को तो भूलने ही लगे, उनके द्वारा निर्दिष्ट नाट्यशैली के आधारभूत तत्त्व लोकप्रामाण्य को भी सर्वथा उपेक्षित कर बैठे। इसके परिणाम-स्वरूप जन-साधारण की भाषा और विद्वानों की भाषा का अन्तर भी बहुत बढ़ गया और दैनिक जीवन के व्यवहार की भाषा और नाटक की भाषा के बीच की खाई इतनी गहरी हो गयी कि नाटकों की प्राकृतों में भी जन-भाषा को स्थान नहीं दिया गया और परंपरागत पुरानी प्राकृतें ही चलती रहीं।

इस ह्रासोन्मुख संस्कृत-नाटक को मुसलमानी आक्रमणों के परिणाम-स्वरूप बहुत बड़ा धक्का लगा।[1] प्रसाद[2] जी ने ठीक ही लिखा है कि 'मध्य-कालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया। यदि इस शासन का आगमन न हुआ होता, तो कम-से-कम वे असंख्य रंगशालाएँ जो देवमन्दिरों, तीर्थस्थानों, राज-भवनों और यज्ञशालाओं से संलग्न थीं, नष्ट होने से बच जातीं और प्रान्तीय-

१—तुलनाय डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' पृ० २२३—२२४।

२—काव्य कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ७०—७१।

भाषाओं के नाटकों के विकास की साधक होतीं। किसी प्रकार की लीपापोती[1] से मुसलमानी आक्रमण और इसलामी शासन-व्यवस्था के मत्थे से यह कलंक मिटाया नहीं जा सकता। आश्चर्य है, लीपापोती करनेवाले विद्वान सन् १६४३ ई० से सन् १८६७ई० तक के मुगल-शासन काल के ऐतिहासिक वातावरण का ही लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं,[2] उसके पूर्व की प्रायः तीन शतियों के मुहम्मद गोरी से लगा कर इब्राहीम लोदी तक के शासन-काल को भुला देते हैं, जिसमें धर्मान्ध शासकों और सैनिकों की पहुंच के भीतर के कला और शिल्प के प्रायः सब निदर्शन ध्वस्त कर दिये गये थे, नालन्दा आदि के पुस्तकालय अग्नि के भेंट हो गये थे और जिसमें मुसलमानी राजधानियों के आसपास प्रदेशों की हिन्दू-जनता को मूक-भाष पशु का जीवन बिताने को बाध्य होना पड़ा था। इस शासन के आतंक से बचकर सीतामेंगा और जोगीमारा की गुफाओं में छिपी हुई नाट्य-शालाएँ स्पष्ट बता रही हैं कि उस शासन-काल में नाट्यगृहों अथवा नाट्य-परंपरा की रक्षा ऐसे ही स्थानों में संभव थी जो देहली के लिए दूर या दुर्गम थे। यही कारण है कि इस काल में जो भी नाटक लिखे या खेले जाते थे, वे प्रायः मिथिला, उत्कल, बंगाल और विशेषतः दक्षिण भारत में ही प्राप्य हैं। इस प्रसंग में यह भी बता देना आवश्यक है कि विध्वंस और विनाश की उल्लिखित तीन शतियों के पश्चात् आनेवाले मुगलों के राज्य को कुछ लेखक 'हिन्दी साहित्य के लिए विशेषकर भारत के लिए सामान्यतया बड़ा उपकारी' कहकर अत्युक्ति से तो काम लेते ही हैं, अपितु उससे उल्टे निष्कर्ष भी निकालते हैं। यदि इस काल में सूर और तुलसी आदि भक्त कवियों की कृतियों में हिन्दी काव्य अपने चरम उत्कर्ष को पहुंचा था तो उसका श्रेय अकबर और जहाँगीर के 'सुरुचि पूर्ण' होने को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। उसका श्रेय तो उस महान् भक्ति-आन्दोलन को प्राप्त है, जो मुसलमानों के भारत-प्रवेश के पूर्व ही दक्षिण भारत में प्रवर्तित होकर मुगलों के शासनकाल तक एक सिरे से दूसरे सिरे तक सारे देश को आह्लादित कर चुका था। देश के जिन सिरों को अकबर और जहाँगीर आदि की 'सुरुचिपूर्णता' स्पर्शमात्र भी न कर सकी थी, वहाँ भी इस भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप सन्त कवियों की मर्मवाणी साम्य, प्रेम, सेवा और सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का दिव्य संदेश सुना रही थी।

१—देखिये डा० सोमनाथ कृत 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृ० २०—२२ और डा० श्री कृष्णलाल कृत 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' पृ० १९३—१९४।

२—डा० सोमनाथ कृत हि० ना० सा० इ० पृ० २०।

भक्ति की यह भागीरथी जन-जन के मानस का मल धोरही थी। इसकी वेगवती धारा ने जाति, संप्रदाय, वर्ग और मजहब आदि मानवता के कृत्रिम बन्धनों को तोड़-फोड़ दिया था। चारो ओर सन्तों की अत्यन्त तल्लीनताकारी, परम प्रेममयी स्वर-लहरी पतितपावनता के विचित्र दृश्य उपस्थित करने लगी थी। इसलिए सत्य तो यह प्रतीत होता है कि जिन शक्तियों ने कबीर, रहीम, रसखान आदि के समान असंख्यों को राम और कृष्ण का भक्त बना दिया था, इन्हीं का अप्रत्यक्ष प्रभाव यह भी हुआ कि अकबर और जहाँगीर भी 'रुचिपूर्ण' हो गये। इस स्वयं प्रकाश ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना करके भक्तों के काव्योत्कर्ष में अकबर और जहाँगीर के शासन की छाया ग्रहण करने का प्रयत्न फालतू बुद्धि का व्यायाम ही कहा जा सकता है।

अस्तु, नाटक के उक्त ह्रास के प्रसंग पर विचार करते समय उसकी कुछ अन्य प्रवृत्तियों पर दृष्टि रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि उल्लिखित विपरीत परिस्थितियों में सबसे अधिक क्षतिग्रस्त होने वाली हमारे नाटकों की वह समृद्ध नागर परंपरा है, जिसे भरत ने नाट्यधर्मी कहा है। इस परम्परा का अन्तिम नाटक संभवतः श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्य और सहयोगी श्री रामानन्द राय का लिखा हुआ "जगन्नाथ बल्लभ" है जो पुरी के शासक श्री प्रताप रुद्र के आदेश से जगन्नाथ जी के मन्दिर में अभिनीत हुआ था।[१] परन्तु मुसलमानों के विशेष रूप से आक्रान्त हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशों में इस प्रकार के किसी अभिनय का उल्लेख हमें इसके बहुत पहिले से ही नहीं मिलता। इस नाट्यधर्मी परम्परा के क्षतिग्रस्त और अन्ततः लुप्त हो जाने पर वह परम्परा फिर भी अक्षुण्ण बनी रही जिसको भरत के शब्दों में लोकधर्मी कह सकते हैं। इस परम्परा में "रंगमंच पर कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग बहुत कम होता था।" इसलिए तत्कालीन परिस्थितियों में सुकरता और सुग्राह्यता की दृष्टि से इसका अवशिष्ट रहना और लोकप्रिय होते जाना स्वाभाविक था। इस परम्परा के अनेक रूप देश के विभिन्न भागों में इस समय प्रचुरता से बिखरे हुये मिलते हैं, जिनको हम दो शाखाओं के अतर्न्गत ले सकते हैं। पहली धार्मिक और दूसरी लौकिक।

यह लोकधर्मी नाट्य-परम्परा प्रारंभ में जन साधारण तक ही सीमित रही, और पंडित मण्डली तथा शिष्ट जनों का समुदाय नाट्यधर्मी परंपरा के न रहने पर भी उसकी ओर विशेष आकृष्ट न हुआ, परन्तु विक्रम की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में जब भक्ति-आन्दोलन ने राष्ट्र में नयी चेतना भरी, तब जहां

१– हेमेन्द्र नाथ कृत 'इंडियन स्टेज' पृ० ११०

एक श्रव्य-काव्य के मुक्तक और प्रबन्ध नाम के दोनों भेद खूब फले-फूले, दृश्यकाव्य भी उपेक्षित नहीं रहा। रंगमंचों के न रहने से पुरानी नाट्य-धर्मी परम्परा के पनपने का अवकाश ही नहीं रह गया था, इसलिए भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख उन्नायकों ने लोकधर्मी परंपरा के पुनरुत्थान की ओर ध्यान दिया। परिणामस्वरूप इस काल में हम समस्त भारत में लोकधर्मी नाट्य परम्परा की धार्मिक शाखा को समुन्नत होकर विविध प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य को प्रभावित करते हुये पाते हैं। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु नाटक के नव्योत्थान के अजस्र प्रेरणा स्रोत ही बन गये थे। चैतन्यभागवत के लेखक वृन्दावन दास ने लिखा है कि चैतन्य स्वयं श्री कृष्णलीला करते थे, उनका अभिनय असाधारण रूप में सम्मोहक होता था। उन्हीं के कारण बंगाल में जात्रा की लोकप्रियता बढ़ी और उसने समुन्नत होकर नाटक का स्थान ले लिया। चैतन्य की ही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रेरणा से मिथिला में 'कीर्तनीया' और आसाम में 'अंकिया' नामक नाटकों का प्रचलन हुआ। संभवतः वैष्णवों की देखादेखी बंगाल में शैवों ने 'गंभीरा' नामक विशिष्ट लोक-नाटक की परंपरा चलायी। दक्षिण में भी मालाबार में १६५७ में कालीकट के मानवेद राजा ने गीतगोविन्द को आधार बनाकर कृष्णनाट्टर का प्रचलन किया और कुछ ही समय बाद राजा वीर केरल वर्मा ने 'रामनाट्टम्' का प्रवर्तन किया। इसी समय के आस-पास पौराणिक आख्यानों के आधार पर कथावली नाम के अभिनयात्मक नृत्य का प्रचार हुआ। महाराष्ट्र में भी संभवतः इन्हीं दिनों बहुत प्राचीन काल से चले आने वाले 'ललित' ने 'हरितकथा' और 'दशावतार' आदि के रूप में अधिक विस्तार प्राप्त किया। ललित दशहरे के अवसर पर होता था, जिसमें भगवान के चरित्रों का अभिनय होता था और अंत में राम के द्वारा रावण का वध करवा दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात और आसाम में भी इन्हीं दिनों रामलीला की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा अधिक बढ़ी, आसाम में तो बंगाल के राजाओं का भी प्रचार बढ़ा। इन्हीं दिनों हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में रामलीला और रासलीला ने समुन्नत और लोकप्रिय होकर साहित्यिक नाटक की क्षतिपूर्ति की।

लोकधर्मी नाट्य-परंपरा की धार्मिक शाखा के इस वासंतिक नव विकास ने जैसा कि स्वाभाविक था, उसकी लौकिक शाखा के विकास में भी योग दिया, जिसके परिणामस्वरूप हम देश के विभिन्न भागों में लौकिक आख्यानों के नाटकीय प्रयोगों का प्रचलन देखते हैं। इनमें गुजरात की भंवाई, महाराष्ट्र का तमाशा, मालवा और राजपूताना का माच तथा उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों

में स्वांग, सांग, भगति, तमाशा आदि के नामों से प्रचलित नौटंकी अदि हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

ईसा की चौदहवीं से अठाहरवीं शदी तक भ्रमणशील अभिनेताओं द्वारा अभिनीत भंवाई नामक प्रहसन ही गुजरात में एक मान्य ऐसा नाटक था, जिसे साधारण जनता और विशेष रूप से निम्न वर्ग के लोग बहुत पसन्द करते थे। अन्ततः इस भंवाई का रूप इतना अश्लील हो गया कि विशिष्ट जनों के लिए वह कुरुचिपूर्ण हो गया। कुछ लोग भंवाई का सम्बन्ध प्राचीन भाण से जोड़ते हैं। महाराष्ट्र का तमाशा भी एक ऐसा ही मनोरंजन का साधन था, प्रारंभ में जिसके प्रयोक्ता और प्रेक्षक दोनों ही निम्न वर्ग के लोग हुआ करते थे और इसीलिये उसमें आंशिक ग्राम्यता भी रहती थी। यही कारण है कि 'तमाशा' से सम्पर्क रखने वाले लोग यहाँ घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। आगे चल कर रामजोशी नाम के एक उच्च कुल के अत्यन्त उत्साही ब्राह्मण तरुण ने 'तमाशा' का बहुत संस्कार किया और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ादी। आजकल तमाशा की दशा फिर सोचनीय हो गयी है और यद्यपि उसका अभिनय आधुनिक नाट्यशालाओं में होने लगा है, किन्तु उसमें गंवारपन पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है। 'तमाशा' एक सामान्य नर्तक के द्वारा डफ या मृदंग और एकतारे या तनतने के साज के साथ अभिनीत किया जाता है। नृत्य के साथ उचित समय के अन्तर से स्वांग भी भरे जाते हैं, जिसका प्रयोजन यह होता है कि देखनेवाले का ध्यान बँटे, मनोरंजन हो, नाचनेवाला प्रायः एक नवयुवक और सुन्दर लड़का होता है, जो लड़की के वेश में सज कर और पैरों में घुंघरू बाँध कर नाच करता है। इसमें प्रायः लावनियाँ गायी जाती हैं। 'गोंधल' नाम का एक और नाट्य-रूप भी महाराष्ट्र में प्रचलित है, जिसका अभिनय करनेवालों की एक जाति विशेष होती है जो गोंधली कहलाते हैं। गोंधल एक ही पहिनावे में आरंभ से अन्त तक रहकर स्वांग भरता है या अवतारों की चरित्रों की स्मृति जगाता है।

हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में राजपूताना और मालवा का नाच और उत्तर प्रदेश की नौटंकी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजस्थान और मालवा में लोक-नाटकों के बहुत से रूप उपलब्ध हैं, पर उनमें सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय माच है। तख्त बिछाकर ऊपर चाँदनी तान कर केले के खम्भों, पत्र-पुष्पों, बन्दनवार आदि से सजाकर मंच बनाया जाता है। मंच के आगे फर्श बिछा रहता है, जिसके तीन ओर दर्शक बैठते हैं और बीच का स्थान अभिनय के लिए रिक्त रहता है। माच प्रायः किसी मन्दिर के सान्निध्य में होता है और अभिनय प्रारंभ होने के पूर्व सब 'स्वरूप' (पात्र) आकर मंच पर बैठ जाते हैं। प्रायः एक व्यक्ति संस्कृत-नाटकों के नान्दी की भाँति निकटवर्ती मन्दिर की छत

पर खड़ा होकर गणेशादि देवताओं की वन्दना करता है, जिसे मंच पर खड़े हो कर सब अभिनेता दुहराते हैं। यह मंगलाचरण अथवा नान्दी—पाठ जिसे चन्द्रमा कहते हैं इस प्रकार प्रारंभ होता है—

थाने मनाउँ गनपति जी काशी का वासी।
आओ गजानन गूमता मेरे आनन्द स्वामी ।।

मंगलाचरण के बाद जब अभिनय प्रारम्भ होता है, तो फर्श के बीच के रिक्त स्थान में ही होता है। अभिनय होते समय बीच-बीच में तबला, सारंगी आदि वाद्य बजते रहते हैं। संवाद अधिकांश पद्यात्मक ही होते हैं, जिनमें दोहों और चौबोलों का प्रयोग होता है। कभी-कभी राजा, रानी और सैनिक, सब वर्तालाप करते-करते नृत्य करने लगते हैं। अभिनय समाप्त होने पर प्रायः सब अभिनेताओं की शोभा-यात्रा निकलती हैं। माच का अभिनय रात्रि में काफी देर के पश्चात् प्रारंभ करने की रीति है और वह दूसरे दिन प्रातःकाल काफी देर तक कभी-कभी प्रहर दिन चढ़े तक चलता रहता है।

माच के अभिनय में कुछ ऐसी मनोरंजक विशेषताएँ हैं, जो अन्य लोक-अभिनयों में नहीं पायी जातीं। माच की सबसे विनोदपूर्ण विशेषता उसके प्रेरक हैं जो अपने हाथों में लम्बी-लम्बी बहियाँ लिये अभिनेताओं के पीछे चलते रहते हैं। ये प्रेरक अपनी बाहियों से जितना अंश पढ़ते हैं, उसी को अभिनेतागण साज पर आवृत्त करते हैं। इन माचों में स्त्री-पात्रों का अभिनय करने वाले विशेष दर्शनीय होते हैं। प्रायः बड़े-बड़े मुछन्दर बड़े शौक से स्त्री-पात्रों का अभिनय करते हैं, और स्त्रियों के आभूषण धारण करने में कोई कोर-कसर नहीं रखते। अपने श्मश्रुओं को लम्बे घूंघट में छिपाने का असफल प्रयत्न करते हुए वे लज्जाशीलता के नाट्य में दूर से नव-वधू से प्रतीत होने का प्रयत्न करते हैं, पर यदि उनकी पुरुष-वाणी और स्थूल हाथ-पैर कभी उनके साथ विश्वासघात कर जाते हैं, तो इसमें उन बेचारों का क्या दोष ? यह स्पष्ट है कि माच में पुरुष ही स्त्री-पात्रों का अभिनय करते हैं। स्त्री-पात्र माच के लिए निषिद्ध माने जाते हैं। पर मालवा के कालूराम उस्ताद ने यह परंपरा तोड़कर स्त्री-पात्रों को रंगमंच पर उतारने का प्रयत्न भी किया था।

माच की अभिनय प्रविधि में प्रादेशिक विभेद और वैशिष्टय मिलता है। राजस्थान और मालवा के माच में रंगमंच और अभिनय की व्यवस्था में कई प्रकार का अन्तर दिखाई पड़ता है, जो दोनों प्रदेशों के संस्कारों और रीति-नीति में पाये जाने वाले ऊपरी पार्थक्य का परिणाम है। मालवा में ही माच की ही कम-से-कम चार परंपराओं का सूत्रपात अकेले उज्जयिनी से हुआ, अन्य स्थानों से इसकी अन्य परंपरा भी चलीं। यही बात राजस्थान के विशाल

प्रदेश के माच के विषय में भी कही जा सकती है। मैंने मालावाड़ में माच का जो रूप देखा था, ऊपर उसी की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया है।

कहा जाता है कि मालवा में माच का विकास 'ठारा-ठारी' के खेलों से हुआ। 'ठारा-ठारी' के खेलों का सम्बन्ध उन वीरों के जीवन-वृत्त से है, जिन्होंने दलितों, शोषितों और पीड़ितों की रक्षा के लिए प्रचलित समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया। राजस्थान में धाड़ी नाम की एक अभिनय-जीवी जाति रहती है, हो सकता है 'ठारा-ठारी' का इनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। अब तक जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर माच की पुरानी परंपरा के विषय में कुछ अधिक निर्णयात्मक बात कह सकना कठिन है। पर 'माच' आज जिस रूप में प्रचलित है उसके प्रमुख निर्माता बालमुकुन्द गुरु कहे जाते हैं। माच की परंपरा में निष्णात व्यक्तियों का कथन है कि बालमुकुन्द गुरु ने सं० १९०१ ई० में सरस्वती की प्रेरणा से माच की परंपरा का पुनरुद्धार और संस्कार किया। इन्होने लगभग १६ माच लिखे, जो राजस्थान और मालवा दोनों ही प्रदेशों में तथा बाहर भी आज तक अत्यन्त लोकप्रिय हैं। बालमुकुन्द गुरु से प्रेरणा पाकर उज्जयिनी के कवि कालूराम उस्ताद ने भी अनेक माच लिखे। माच के अन्य उन्नायकों में शुकदेव और पन्नालाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है, कारण इन्होंने अपनी रचनाओं को सामाजिक एवं राजनीतिक जागरण का माध्यम बनाने का प्रयत्न किया। इनके अतिरिक्त मालवा में भेरू गुरू, राधाकिसन गुरू तथा गूजर गौंडा की भी माच की अपनी अलग-अलग परम्पराएँ मिलती हैं। इन सब परम्पराओं के माचों में वीर एवं श्रृंगार रस की प्रधानता हैं। नये माचकारों में नाथूसिंह उस्ताद, सिद्धेश्वर सेन एवं सेवा परमार ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है।

माच की जो परम्परा मैंने राजस्थान के झालावाड़ के राज्य में पायी वह पूर्णतया धार्मिक है। उसमें राजस्थान के गाँवों की संस्कृति की सब विशेषतायें अक्षुण्ण हैं। माच का व्यावसायिक रूप वहाँ दिखाई नहीं पड़ा, यदि कहीं हो भी तो उसका मुझे पता नहीं लगा। माच की इस परम्परा के संरक्षक मुझे उसके प्रति अनन्य निष्ठावान् प्रतीत हुए। वे लोग केवल भक्तों की लीलायें करते हैं और प्रे -लीलाओं को माच के लिये अग्राहय मानते हैं। ये लोग मोरध्वज, प्रह्लाद, रामायण, धनुषयज्ञ, गेंदलीला, नागलीला आदि के ही माच करते हैं। पर अनेक वीररस के माच भी राजस्थान में प्रचलित हैं, जिनमें राजा हम्मीर का माच बहुत प्रसिद्ध है, ढोला-मारू, हीर-रांझा, सदावृक्ष-सारंगा, आवलदेखेमरा, पचफूला और मूनारानी आदि के प्रेम कथात्मक माच भी बहुत

लोकप्रिय हैं। इन सबमें प्रेम-मार्ग के त्याग, कष्टों, संकटों और व्यथा-वेदनाओं की बड़ी हृदयहारिणी अभिव्यक्ति हुई है।

माच ही की श्रेणी के अन्य अनेक सरस नाचरूप भी राजस्थान में प्राप्त होते हैं, जिनमें तेजा जाट, डूंगजी-जवारजी, गोपीचन्द भरथरी आदि के अभिनयात्मक संवाद विशेष लोकप्रिय हैं। एक पूर्णतया वीर रसाश्रित नाटकीय प्रयोग का राजस्थान में अत्यधिक प्रचार है, जिसे 'कड़ा' कहते हैं। इसके विधान के अन्तर्गत एक नगाड़ा रहता है जिस पर डंके लगाते हैं। कुछ आदमी उसी की ताल पर लकड़ी से आवाज लगाते हैं। उसके साथ किसी वीर की कथा का गायन चलता है, जिसे एक व्यक्ति गाता है और उसके कतिपय सहयोगी दुहराते हैं। 'कड़ा' में पृथवीराज नाम के एक वीर की कथा सर्वाधिक लोकप्रिय है। इनके अतिरिक्त अनेक संवादात्मक प्रेम-कथाओं के अभिनयात्मक गायन का भी राजस्थान में बहुत प्रचार है, जिनके अन्तर्गत 'देवनारायण', 'रामदेव,' 'ढोला-मरवण', 'रतना', 'रेबारी' आदि की कथाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि गायक अकेला ही पात्रों की वचन-रचना, भाव-भंगिमा तथा विविध मुद्राओं का प्रदर्शन करता है। इन प्रेम-कथाओं में 'ढोला- मरवण' की लोकप्रियता सर्वोपरि है, जिसमें कहीं-कहीं अनलंकृत कवित्व के अत्यन्त रमणीय रूप के दर्शन होते हैं। जिस समय गायक अभिनेता कुरुची पक्षी के द्वारा ढोला के पास मरवण प्रेषित प्रेम-सन्देश का साभिनय गायन करता है, उस समय श्रोताओं की अपार भीड़ रसमग्न और भाव-विभोर होते देखी जाती है। उसकी मार्मिकता का अनुमान एक छोटे से अंश से लगाया जा सकता है :—

अगल्या बगल्या तो पगा लागणो
बीचा मँ सलाम सलाम।
एक सन्देशो मूं लिखूं जी ढोला
सुणज्यो चित्त लगाय।
मरवण पाकी पाक आम ज्यूं
टपक-टपक रस जाय।

ढोला मरवण की कथा का गायन राजस्थान में सं० १५०० वि० से होता रहा है।

उत्तर प्रदेश और उसके आसपास काफी दूर तक लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के जो अनेक लौकिक रूप प्रचलित है, उनमें नौटंकी का प्रचार सबसे अधिक व्यापक है। नौटंकी के अविर्भाव की कोई निश्चित तिथि अभी नहीं बताई जा सकती है। 'प्रसाद' जी ने लिखा है, मध्यकालीन "धर्मान्ध आक्रमणों ने जब

भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो...... रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गये, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के पहिले भी देखते रहे हैं। इनमें मुख्यतः नौटंकी (नाटकी) और भांड ही थे।" [1] इस प्रकार नौटंकी की प्राचीनता तो निर्विवाद ठहरती है। इसका एक पुराना उल्लेख हमें औरङ्गजेब के समकालीन मौलाना गनीमत की मसनबी 'नैरङ्गे इश्क' में मिलता है, जो १८८५ के आस-पास लिखी गई थी। मौलाना ने फारसी में जो कुछ लिखा है उसका आशय इस प्रकार है:—

"आज शहर में अजब किस्म के लोग आये हैं, जो एक तर्जो-अन्दाज के साथ नकलें करते हैं, और नगमोंसाज के साथ शोबरे दिखाते हैं। नाच और नकल में वे उस्ताद हैं, खुश आवाज (मीठे स्वर वाले) हैं। हमारे इस्तलाह (भाषा) में इनको भगतबाज कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नक़ल करते हैं, कभी परेशान बाल सन्यासी बन जाते हैं, कभी-फिरङ्गी (अँग्रेज) बन जाते के हैं। कभी दहकानी औरत और मर्द की नकल करते हैं, कभी दाढ़ी मुड़ाकर गिब्र की सूरत में नजर आते हैं। कभी मुगलों की शकल बनालेते हैं, कभी गुलाम बनजाते हैं, कभी जच्चा की हुलिया बनालेते हैं, जिसका बच्चा दाया की गोद में रोता है। कभी देव बन जाते है, कभी परी। गरज हर कौम का जलवा दिखाते हैं और हर तरह के इश्वा जमाने से काम लेते हैं।" [2]

लेखक समझते हैं कि मौलाना के उपर्युक्त उल्लेख में भगतबाजों की भाषा सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है, इसलिये वे उनके फारसी भाषा में होने के सम्भावना की दुरारूढ़ और क्लिष्ट कल्पना भी करते हैं। [3] पर मौलाना ने तो उपर्युक्त उद्धरण में उल्लिखित नकलों के अभिनेताओं को भगतबाज कहकर अपनी ओर से यह नितान्त स्पष्ट कर दिया है कि इन नाट्य-प्रयोगों की भाषा हिन्दी थी और अभिनेता भी हिन्दुस्तानी ही थे। 'भगत' (भक्ति या भक्त का अपभ्रंश) शब्द के हिन्दी होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। आज भी इस परंपरा के नाट्य-प्रयोगों को मथुरा और आगरा के आस-पास 'भगति' ही कहा जाता है। हाथरस और उनके पास इन्हीं के लिए 'स्वांग' नाम चलता है और उसके पूरब के प्रदेशों में प्रायः नौटंकी नाम चलता है। मारवाड़ी लोग इन्हें ही तमाशा कहते हैं, कहीं-कहीं 'स्वांग' या संगीत नाम भी चलता है, पहले

१—काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ७१

२—डा० सोमनाथ गुप्त कृत 'हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास' के पृ० १५ से उद्धृत।

३—वही पृ० १७

इसका एक नाम ख्याल भी था, पर अब प्रायः वह छूट गया है और उसका प्रयोग सीमित होकर ख्याल या लावनी नाम के छन्द की रचना-प्रतियोगिताओं तक ही रह गया है। मौलाना गनीमत के समकालीन हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सबल सिंह चौहान के एक उल्लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उन दिनों स्वांगों का बहुत प्रचार था। उन्होंने अपनी भाषा-महाभारत में स्वांग शब्द का प्रयोग किया है।

कहूँ नृत्यकारी नचि गावैं।
कहूँ नाटकी स्वांग दिखावैं।।

जैसा कि मैं दिखा चुका हूँ, जब आज भी 'स्वांग' और 'भगत' आदि एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो रहे हैं, तो मौलाना गनीमत के 'भगतबाज' और 'भगत' को क्रमशः सबल सिंह के 'नाटकी' और 'स्वांग' मान लेने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

इसी अभिनय-परंपरा के लिए भक्ति और रीति काल में ध्रुव, प्रह्लाद, मोरध्वज, गोपीचन्द और पूरनभक्त आदि के चरित्रों की बहुत बड़ी संख्या में रचना हुई थी, जिनमें अभिनेयता और साहित्यिकता दोनों का समन्वय था। नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित्र' इसी परंपरा की एक प्रसिद्ध कृति है, जिसमें कथावस्तु एवं संवादों को नाटकीयता, अभिनय-सुकरता और साहित्यिकता आदि के सभी गुण मिलते हैं। इसकी सुयोजित कथा छोटी होते हुए भी, नाटकीय वस्तु-विकास की विविध अवस्थाओं से होती हुई, अभीष्ट रसनिष्पत्ति में पूर्ण सफल होती है। निश्चय ही यह रचना उस काल के लोकधर्मी रंगमंच के विधान को दृष्टि में रखकर लिखी हुई प्रतीत होती है। उसके संवादों के बीच में पड़ने वाले स्वयं कवि के कुछ कथन, जो कथासूत्र को जोड़ते हैं, नौटंकी के 'रंगा' के कथन के समान ही शास्त्रीय नाटकों के चूलिका नाम के अर्थोपक्षेपक के समकक्ष हैं। वस्तुतः कवि उसमें अपनी सूचनाओं द्वारा वही काम कराता है, जो रेडियो पर प्रसारित होने वाली ध्वनि-नाटिकाओं में तथा अनेक आधुनिक पश्चिमी नाट्य-प्रयोगों में अनाउंसर करते हैं। अतएव, इस प्रकार के चरित्रों की नाटकीयता में सन्देह करने को अवकाश नहीं रह जाता। इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना पड़ता है कि ये चरित्र लक्षोदय कृत 'पद्मिनी चरित्र', केशव कृत 'वीरसिंह देव चरित्र' आदि से भिन्न हैं, जो केवल पाठ्य या काव्य हैं, अभिनेय नहीं। इन्हीं श्रव्य काव्यात्मक चरित्रों से भेद बताने के लिए उक्त दृश्य के काव्यात्मक चरित्रों को संभवतः नाटकीय कहा जाता था, जो कालान्तर में 'नाटकी' होकर 'नौटंकी' कहलाने लगे। नौटंकी के आज के असाहित्यिक रूप को देखकर हम उसके प्रचीन समृद्ध स्वरूप की भी उपेक्षा

करते हैं और विशिष्ट नाट्य-परंपरा के उत्तराधिकारी होते हुए भी मध्यकाल में नाटकों के पूर्ण अभाव का रोना रोते हैं। आश्चर्य है, हमारे कुछ विद्वान् बनारसीदासकृत 'समय सार नाटक' जैसी विशुद्ध दार्शनिक एवं सर्वथा अनाटकीय कृति के आगे नाटक नाम जुड़ा देखकर ही उसे नाटक मान लेते हैं, पर उपर्युक्त चरित्र साहित्य की नाटकीयता की परीक्षा करने का भी कष्ट नहीं स्वीकार करते।

आगे चलकर नौटंकी का रूप विकार ग्रस्त हो गया प्रतीत होता है। इसके विकृत होने का कारण संभवतः मुसलमानी प्रभावापन्न नगरों से इसका संपर्क था, जिसका आभास मौलाना गनीमत के उक्त हर्ष-विस्मयपूर्ण उद्‌गार से मिलता है। मुसलमानों के ऐसे ही संपर्क के कारण नाट्यशास्त्र की परंपरा 'भाण' भी भांड़ों की अश्लील भँड़ैती में परिणत हो गया था। मुसलमानी प्रभाव से नौटकी में जो अश्लील स्त्रैणता आई, उसका सबसे उपयुक्त प्रमाण अमानत की 'इन्दर सभा' में मिलता है। खेद है, डा० सोमनाथ गुप्त जैसे लेखकों ने इसे "प्राप्य रंगमंचीय नाटकों में सबसे पुरातन नाटक" माना है और इसके महत्त्व के प्रतिपादन में अनेक पन्ने रंगे हैं।[1] इस प्रकार के कथन अपनी नाट्य-परंपरा की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रचलित अज्ञान का परिचय तो देते ही हैं, अपनी शब्दावली से भी अनेक प्रकार के भ्रमों की सृष्टि करते हैं। नाटक तत्त्वतः दृश्य काव्य होने के कारण सतत् रंगमंच सापेक्ष्य अर्थात् रंग-मंचीय हैं, अरंगमंचीय कृति नाटक नहीं स्वीकार की जा सकती। पुनश्च, रंगमंचीय नाटकों की परंपरा भी हिन्दी में लीलाओं के रूप में अविच्छिन्न रूप से शताब्दियों से चली आ रही है, जिनका विवरण हम अपने लेख में प्रस्तुत करेंगे। उसी के समानान्तर नौटंकी की परंपरा भी अबाध-गति से चल रही है। इनके रहते अमानत की 'इन्दर सभा' को प्राप्त 'रंगमंचीय नाटकों' में भी सबसे 'पुरातन' स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'प्राप्य' अर्थात् जिनको अभी प्रकाश में आना है, उनकी चर्चा का अधिकार ही किसे है? 'इन्दर सभा' वास्तव में नौटंकी अथवा स्वांग का वाजिदअलीशाह की रुचि के अनुकूल संयोजन (Adaptation) मात्र है।

'इन्दरसभा' में ऐसे कोई विशिष्ट गुण नहीं जो नौटंकी की परंपरा में पहले से ही प्राप्त न हों। इसके अतिरिक्त भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से वह ऐसी भ्रष्ट रचना है कि उसे हिन्दी-नाटकों की परंपरा में सम्मिलित करने का मोह ही विचित्र प्रतीत होता है। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने तो

१—देखिये डा० सोमनाथ गुप्त कृत, हि० ना० सा० इ०, पृ० ९

इसीलिए उसी समय उसे 'चौपट' विशेषता से विभूषित किया था और उन्हीं के समकालीन 'अकबर गोरक्षा-न्याय' नाटक के लेखक जगत नारायण ने उसे 'देश को नाश' करने वाली बताया था।[1] वस्तुतः इस युग में ध्रुव, प्रहलाद, मोरध्वज आदि के प्राचीन आदर्श चरित्रों के कथानकों के स्थान पर बहराम गोर, गुलबदन, सफ़ेददेव, नीलमपरी, हुस्नबानू आदि आने लगे और गीतों में महबूब, मुहब्बत, मुश्क-मुश्फिक, आशिक, माशूक की भरमार हो गयी। इसी बढ़ती हुई, अश्लीलता के कारण नौटंकी को हमारे समाज में जो निन्दा और निरादर प्राप्त हुआ, इससे वह आज भी पूर्ण तरह मुक्त नहीं हो पायी है।

फिर भी नौटंकी के परिष्कार के लिए जो प्रयत्न हुए, वे उल्लेखनीय हैं। ध्यान देने की बात है कि परिष्कार के ये प्रयत्न ग्रामों से ही आरम्भ हुए, जहाँ आचरण की सभ्यता थोड़ी बहुत अवशिष्ट थी। इस प्रकार के प्रमुख प्रयत्नों के फलस्वरूप जो सुधार हुआ, उसके एक प्रमुख प्रवर्त्तक बुलन्दशहर के उस्ताद इन्दरमन छिपि थे। एक जनश्रुति के अनुसार यह प्रेरणा उन्हें अपने इष्टदेव से मिली हुई बताई जाती है। उनके शिष्य हाथरस के चिरंजीलाल छिपि ने अपने उस्ताद की परम्परा को आगे बढ़ाया। नौटंकी के इन दोनों आचार्यों ने धार्मिक लीलाओं का अपेक्षाकृत अधिक प्रचार किया और नौटंकी के नान्दी के स्थान पर प्रारम्भ में राधाकृष्ण की आरती का प्रचार किया। इन महानुभावों ने नौटंकी के रंगमंच और अभिनय सम्बन्धी विधान को भी बहुत सरल रखा। उस्ताद चिरंजी लाल के शिष्य हाथरस के नत्थाराम शर्मा ने नौटंकी के सरल विधान में अनेक कृत्रिम उपकरणों का समावेश किया। उन्होंने अपने खेलों में बहुसंख्यक पात्रों की योजना आरम्भ की। आहार्य में भी जड़ाउ और भड़कीले वस्त्रों तथा अलकारों का सन्निवेश किया। रंग-मंच भी उनकी प्रेरणा से अधिक सज्जित किया जाने लगा तथा अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का भी प्रयोग होने लगा। नत्थाराम ने नौटंकी के विधान में जो परिवर्तन किया, वह संभवतः पारसी थियेटर के बढ़ते हुए प्रभाव से अभिभूत होकर ही। आज भी नौटंकी पर सिनेमा का प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है और एक बार फिर उसका मूलरूप संकटापन्न दिखायी देता है।

नौटंकी के मूल साहित्यिक रूप के उद्धार का प्रयत्न भारतेन्दु जी ने किया। उनकी दृष्टि अपने रंगमंच की सब परम्पराओं पर गयी थी। भारतेन्दु

१—दे० प्रतापनारायण मिश्र कृत 'संगीत शाकुन्तल' की भूमिका और जगत नारायण कृत 'अकबर गोरक्षा-न्याय' नाटक की प्रस्तावना।

जी को अपने समय में चार प्रकार का रंगमंच मिला था—एक रामलीला का, दूसरा रासलीला का, तीसरा नौटंकी का और चौथा पारसी कम्पनियों का।

धार्मिक प्रवृत्ति के लोग रामलीला और रासलीला के प्रेमी थे, लौकिक विषयों में रुचि रखने वाले विशेषतः अशिक्षित और ग्रामीण लोग नौटंकी के अनुरागी थे। पारसी कम्पनियों का उदय अंग्रेजी-शिक्षा और संस्कृति के प्रचार के साथ-साथ नगरों में हुआ था, अतः वहाँ की अधिकांश जनता पारसी रंगमंच द्वारा चमत्कृत थी। भारतेन्दु ने प्रत्येक प्रकार की रंगमंच पर खेली जाने वाली रचनाओं का परिमार्जित रूप प्रस्तुत करके दर्शकों की एक सामान्य परिष्कृत रूचि निर्माण करने का प्रयत्न किया। काशी में जो रामलीला श्री मान् महाराज काशीराज भक्तशिरोमणि की कृपा से होती थी, उसके लिए उन्होंने अत्यन्त सरस पाठ्य प्रस्तुत किया।[1] रासलीला को भी उन्होंने साहित्यशास्त्र-विहित नाट्यकला के सब तत्त्वों से विभूषित करके 'चन्द्रावली' नाटिका के रूप में उपस्थित किया। नौटंकी का समुन्नत रूप भी 'नील देवी' नाटिका में दिखाई पड़ा, जिसे भारतेन्दुजी ने गीति-रूपक कहा है। नौटकी को साहित्यिक रूप देने का इस काल का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्रतापनरायण मिश्र कृत 'सगीत-शाकुन्तल' है। इसमें खड़ी बोलो, अवधी और ब्रजभाषा तीनों का प्रयोग है। उच्चवर्ग के लोग खड़ी बोली का व्यवहार करते हैं, मध्यम अथवा निर्धन वर्ग के पात्र अवधी बोलते हैं और गीत ब्रजभाषा में हैं। इस नाटक की भाषा बड़ी चुस्त, मुहावरेदार और प्रतिदिन के व्यवहार की बोली के निकट है। इस काल के कुछ अन्य लेखकों ने भी भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र का अनुसरण किया। हमारे आधुनिक नाटक लेखकों ने इब्सन और मैटरलिंक आदि को हिन्दी में उगाने की साधना तो की, पर भारतेन्दु-युग के लेखकों के समान, अपनी प्रचीन नाट्य-परम्परा की अन्तर्निहित शक्ति को परखने का कष्ट कभी-स्वीकार नही किया।

संभवतः उपर्युक्त नाट्य-परम्परा से ही विनिर्मित पद्यात्मक नाटकीय संवादों की एक परम्परा भी मध्यकाल में बराबर चलती रही। नरहरि नाम के कवि ने नाटकीय संवादात्मक अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे, जैसे—'धन और विद्या कौवाद' आदि। दुलारे कवि का लिखा हुआ 'सोने लोहे को झगरो' अथवा 'सोने लोहे की चरचा' नाम का ग्रन्थ भी मिलता है। इन 'वादों' या 'चरचाओं' का वाग्वैदग्ध्य तो सराहनीय है ही, कहीं-कहीं नाटकीय परिस्थितियों का उस समय की जनता की दृष्टि से बड़ा प्रभावशाली समावेश भी इनमें मिलता है।

१—दे० भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, पृ० ७७०

'सोने-लोहे की चरचा' के अन्तर्गत सोने और लोहे का विवाद बड़ी कटुता के साथ आरंभ होता है। सोना लोहे को अपना दास और हत्यारा कहता है, तो लोहा उसे स्त्रैण कहकर अपनी बहादुरी की डींग मारता है—तुझे पहनकर लोग प्रेयसी के सेज पर जाते हैं और मैं तो खड्गवाही शूर-वीरों का आभरण हूँ। सोने-लोहे का यह विवाद वर्षों तक चलता है। अन्त में स्वयं भगवान् विष्णु को गरूड़ पर चढ़ कर मध्यस्थता के लिए आना पड़ता है। इन्हीं पद्यात्मक नाटकीय संवादों को भारतेन्दु जी ने गद्यरूप में पुनः प्रवर्तित किया था। इसी प्रकार के उनके दो नाटकीय संवाद 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में प्रकाशित हुये थे। एक था 'दो मित्रों का वार्तालाप (कुशपालक और विश्वबन्धु दो मित्रों का समागम)'[1] जिसमें उर्दू लिपि की अस्वाभाविकता पर व्यंग्य था। दूसरा था 'सबै जात गोपाल की'[2] जिसमें दक्षिणा प्राप्त करने के लिए शास्त्रों का अर्थ बिगाड़ने वाले पंडितों का उपहास किया गया था।

नौटंकी की ही श्रेणी का संपेरा (अवध में 'संफेड़ा') नामक लोक-नाटक भी है, जो अवध के ग्रामों में बहुत अधिक लोकप्रिय है—कदाचित् नौटंकी से भी अधिक यह भी नौटंकी की ही तरह का एक गीतिरूपक है, इसकी अभिनय व्यवस्था उसकी अपेक्षा अधिक सुघर है, यह प्रायः चारों ओर खुले हुए स्थानों में फर्श पर ही अभिनीत होता है, मंच बनाने के लिए किसी प्रकार के तख्त इत्यादि सामान्य आडम्बर भी अपेक्षित नहीं होता। कुल मिलाकर पाँच अभिनेता (अधिक-से-अधिक सात) ही, एक मण्डली बना लेते हैं, ये लोग 'संपेरे' या 'संफेड़े' कहलाते हैं। लखनऊ के निकटवर्ती जनपदों में 'संपेरे' अधिकतर मुसलमान होते हैं। ढोलक संपेरा का मुख्य वाद्य है, चिकारे और मंजीरे उसका साथ देते हैं। नए 'सफेड़े' चिकारे के स्थान पर हारमोनियम का भी प्रयोग करने लगे हैं। ढोलक की थाप और चिकारों की मीड़ों के साथ अभिनेताओं के संगीतात्मक संवाद सुनकर ग्राम-प्रेक्षक झूम-झूम उठते हैं। संपेरे की संगीत शैली वही है, जो नौटंकी की, छन्द-विधान भी लगभग वैसा ही। नौटंकी और संपेरा दोनों ही संगीत-प्रधान रचनाएँ हैं, दोनों के कथनोपकथन गीत-प्रधान होते हैं, और दोनों में ही नृत्य का प्रयोग संवादों के पूरक के रूप में होता है।

यद्यपि नौटंकी और संपेरे में रूप-साम्य है, तथापि वस्तु-विधान की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है। नौटंकी की कथा-वस्तु में बड़ी विविधता होती है, उसके कथानक पौराणिक, प्रेमकथात्मक, ऐतिहासिक, लोककथात्मक एवं सामयिक सभी प्रकार के होते हैं। किन्तु संपेरा की एक ही सुनिश्चित कथावस्तु है,

---

१—हरिश्चन्द्र मैगजीन, १५ अक्टूबर, १८७३ ई०।

२— ,, ,, १५ नवम्बर, १८७३ ई०।

सब संपेरे या सँफेड़े उसीका अभिनय करते हैं। इसका कथानक आदिम मानव-जाति के अति प्राचीन विश्वासों और मान्यताओं के अधार पर संगठित हुआ है । यद्यपि संपेरा में कथा-विस्तार का अभाव है, किन्तु उसके छोटे से कथानक में आश्चर्य, प्रयोग एवं संघर्ष के अनेक हृदयाकर्षक तत्त्व मिलते हैं । प्रचुर संगीत और नृत्य के साथ इसका अभिनय अर्धरात्रि से सूर्योदय के बाद तक चलता रहता है। सँपेरे का कथानक छोटा ही है। कामरूप देश जादू-टोने की प्रसिद्ध राजधानी है । वहाँ नागर नाम का एक बड़ा सँपेरा रहता है, जो बड़े-बड़े विषधर सर्पों को वशीभूत करने की शक्ति रखता है । एक सौदागर उसे 'मंतरगढ़' (बंगाल) में रहने वाली मोती नामक जादू-टोने में निष्णात आजानु विलंबित केशों वाली सुन्दरी का पता बताता है । मोती के सौन्दर्य का वृत्त सुनकर नागर के हृदय में श्रवणजन्य पूर्वराग का समुद्र लहराने लगता है । वह योगी का वेश धारण कर मोती को प्राप्त करने के लिए 'मंतरगढ़' के लिये अभियान करता है । नागर की पतिव्रता पत्नी सुन्दर उसे बहुत रोकती है, पर उसका अनुनय-विनय एवं अनुरोध सब कुछ व्यर्थ हो जाता हैं । नागर 'मंतरगढ़' पहुँच कर जादू-टोने की रानी मोती के प्रासाद में प्रविष्ट होता है । पहले मोती से उसका वाग्युद्ध होता है, फिर दोनों में जादू की लड़ाई ठनती है । मोती नागर पर विषधर सर्प छोड़ती है, नागर उन्हें मंत्र के बल से वशीभूत कर लेता है, किन्तु अन्त में नागर की पराजय होती है, मोती अपने मंत्र बल से मार कर उसे धरती पर सुला देती है। नागर पर आए हुये मृत्यु-संकट का अभास उसकी पतिव्रता पत्नी सुन्दर को स्वप्न में मिलता है। जादू-टोने और अभिसार के ज्ञान में सुन्दर किसी से कम नहीं है । वस्तुतः वह जादू की महासाम्राज्ञी है, वह सूखी नदियों में नाव चला सकती है, आसमान के तारे तोड़कर ला सकती है, मनुष्य को पशु-पक्षी बनाने की सामर्थ रखती है, एवं मुर्दों को जिला देना उसके लिए बाएँ हाथ का खेल है । अतएव पतिप्राण सुन्दर नागर को खोजती हुई 'मंतरगढ़' पहुँचती है और अपनी मंत्र-शक्ति से पतिहंती मोती को मार गिराती है । तत्पश्चात् वह अपने पतिव्रता एवं जादू-टोने की सम्मिलित शक्ति से मृत नागर को जिला देती है । नागर के आग्रह से उसे मोती को भी जिला देना पड़ता है । सुन्दर की अनुमति से नागर मोती को अपनी पत्नी बना लेता है और दोनों के साथ सुख से कामरूप में निवास करता है । इस प्रकार दु:ख, कष्ट और मृत्यु की यह दारुण कथा, सुख पर्यवसायी बन जाती है ।

यह कथानक इस देश की किसी आदिम अनार्य्य जाति की अति प्राचीन कथा पर आधारित प्रतीत होता है। लोक-नाट्य के रूप में भी यह

बहुत प्राचीन होता है।[1] संभवतः जादू-टोने में विश्वास रखने वाली किसी सूर्य पूजक आदिम जाति के किसी प्राचीन नृत्त रूप से उसका उद्भव हुआ हो। इसमें नृत्त के मसृण और उद्धत दोनों रूपों के अवशेष मिले-जुले रूप में पाये जाते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि नाट्य के विकास की पहली अवस्था में उसमें केवल एक अंक और एक ही अभिनेता होता था। उसके विकास की दूसरी अवस्था में अभिनेता अनेक हो गये, पर अंक एक ही रहा। इसीलिए श्री डी० आर० मानकर 'भाण' तथा 'भाणी' को प्राचीनतम नाट्य रूप मानते हैं। उनका कहना है कि सब प्रकार के रूपक 'भाण' से आविर्भूत हुए हैं, और सब उपरूपक 'भाणी' से संपेरा भी 'भाणी' का कोई एक विकसित रूप हो सकता है। संभव हैं, प्रारंभ में इसमें एक ही पात्र हो, जो आकाश भासित शैली में अपना वृत्त प्रस्तुत करता हो। कालांतर में उसमें अन्य पात्रों का भो समावेश हो गया होगा। समय-समय पर उसके बाह्य रूप में अवश्य परिवर्तन होते रहे होंगे, पर इसका जादू-टोने वाला मूल आभ्यन्तर तत्त्व अब तक सुरक्षित है। सँपेरा का एक नवीन रूप 'नागर सभा' कहलाता है। मेरा अनुमान है अमानत के 'इन्दर सभा' के प्रभाव से यह रूपान्तर घटित हुआ है। प्रचीन नृत्त-रूपों का ही एक अवशेष अवध का 'लिलिल घोड़ी' का नाच है। जनश्रुति है कि अवध के बादशाहों को यह बहुत प्रिय था।

इसी प्रसंग में बहुरूपिया का उल्लेख भी आवश्यक है। नाम से ही प्रकट है कि बहुरूपिया वह अभिनेता है जो अकेले ही अपने उपर अनेक पात्रों का आरोप करता है, और इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लोगों का मनोरंजन करता है। मध्यकाल में बहुरूपियों का व्यवसाय बड़ा समृद्ध था, जनता में भी वे लोकप्रिय थे, और शाही दरबारों में भी उनकी कला को संरक्षण प्राप्त था। बरकत उल्ला ने १७ वीं शदी में लिखित अपने 'प्रेम-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में बहुरूपियों की कला का विवरण दिया है। पर इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि बहुरुपियों की कला का विकास मध्ययुग में ही हुआ। वस्तुतः यह हमारे देश की अति प्राचीन कला है। एक ही मनुष्य के अनेक रूप धारण करने की कला से ही विभिन्न नाट्य-रूपों का विकास हुआ होगा, यह विश्वास धीरे-धीरे मान्य होता जा रहा है।

तर्क- सरणि का अवलंबन कर 'भाण' तथा 'भाणी' को प्राचीनतम नाट्यरूप माना गया है। यजुर्वेद के रूद्राध्याय के चतुर्थ अनुवाक् में 'विश्वरूप' शब्द आया है-विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्चवोनमो नमो-रथिभ्यो रथेभ्यश्चवो नमो नमो४....नमस्तक्षम्यो रथ कारे भ्यश्चवो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मा-

१—दे० डी० आर० मानकर कृत 'टाइम्स आफ संस्कृत ड्रामा' पृ० १६४-१६५

रभ्यश्चवो नमोनमः पुजिष्टभ्यो निषादभ्यश्चवो नमोनमः-इस अनुवाक् में जितने शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे सबके सब सामान्य नाम बोधक हैं, इसलिए 'विश्वरूप' शब्द भी सामान्य नाम वाचक ही होना चाहिए। इसलिए कुछ विद्वानों का अनुमान है कि आज का बहुरूपिया ही वैदिक काल में कदाचित् विश्वरूप कहा जाता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी पुरुषमेध-प्रसंग में 'शैलूष' और 'वंशनर्तो' शब्द साथ-साथ आए हैं। 'वंशनर्ती' का अर्थ है कुल परंपरागत 'नर्तक'। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक वाङ्मय के 'शैलूष' का अर्थ है नट अथवा अभिनेता। बहुत संभव है, तैत्तिरीय ब्राह्मण के 'शैलूष' और यजुर्वेद-संहिता के विश्वरूप दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता रहा हो।[1]

मध्यकाल की हमारी नाट्य-परम्परा दरबारों के प्रभाव से सर्वथा असंपृक्त और मुक्त रहकर फली-फूली थी। वह सर्वसाधारण जनता की अपनी वस्तु थी। दरबारों से सम्बन्ध रखने वाले उच्च वर्ग के नागरिक उससे मनोरंजन प्राप्त करने में अपनी हेठी समझते होगे। ऐसे लोग नाटकों की रंजकता की कमी की पूर्ति साहित्यिक गोष्ठियों और सम्मेलनों द्वारा करते थे। राज-दरबारों में इस तरह के सम्मेलन कभी-कभी हुआ करते थे। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने नवम्बर १९४३ की 'सरस्वती' में अपने सूरति मिश्र नामक निबन्ध में लिखा है—"सवत् १८७४ के एकाध वर्ष इधर-उधर आगरे में कवि-समाज एकत्र हुआ था। उसमें साहित्य के कई मर्मज्ञों ने योग दिया था।" मुहम्मदशाह के समय में, जब सूरति मिश्र और प्रवीन कवि थे, तब ऐसा सम्मेलन हुआ था। ऐसे समाज राजधानियों में होते ही रहते होंगे, यह अनुमान किया जा सकता है। इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि इस काल में ऐसा साहित्य भी प्रचुरता से लिखा गया, जिसका बहिरंग तो प्रबन्ध काव्य अथवा मुक्तक का है, पर जिसमें दृश्य काव्य के अनेक आभ्यन्तर तत्त्व उपलब्ध होते हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' के संवाद इसका एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। लोक धर्मी नाट्य-परम्परा से दूर रहने वाले लोग इनसे भी नाटकों की रंजकता के अभाव की पूर्ति करते थे।

१—दे० कु० गोदावरी वासुदेव केतकर कृत मराठी प्रबन्ध 'भारतीय नाट्यशास्त्र' पृ० २२४।

३

मध्यकालीन धार्मिक नाट्य-परंपरा

रास लीला

(१)

पिछले अध्याय में लोकधर्मी नाटच-परम्परा की जिस धार्मिक शाखा का उल्लेख किया गया है, उसमें होने वाले नाटच-प्रयोग लीला नामसे व्यवहृत हुए हैं। यद्यपि लीला और नाटक दोनों ही दृश्यकाव्य हैं, पर उनमें कुछ तात्त्विक अंतर भी है। लीला केवल भगवत्संबंधी ही होती है और नाटक का संबंध जीवन के लौकिक पक्ष से होता है। लीला का उद्देश्य है, तात्कालिक आनन्द के साथ-साथ दूसरे समय में भी वैसा ही चिन्तन करके भगवत्स्वरूप में तन्मय होना और नाटक का उद्देश्य है मनोरंजन के साथ-साथ लोक-संग्रह। तात्पर्य यह कि लीला दर्शन, ध्यान और चिन्तन की वस्तु है और नाटक प्रेक्षण तथा ग्रहण की। लीला अंतःकरण को भगवदाकार बनाती है और नाटक व्यक्ति का चरित्र-निर्माण कर सकते हैं, तथा समाज को एक निश्चित दिशा में ले जा सकते हैं। लीला भक्ति-योग की सहायक है, वह एक प्रकार का भावयोग है और नाटक कर्म-योग का एक साधन है। लीला स्वान्तःसुखाय होती है, और नाटक के मूल में सामाजिक उपयोगिता की भावना रहती है।

इस प्रकार की लीलाओं को राम और कृष्ण के भेद से राम लीला और रासलीला कहा जाता है, जिनमें से राम लीला के विषय में आगे कहा जायगा। वस्तुतः रास लीला भक्तजनों की आध्यात्मिक पिपासा शान्त करने के लिए ब्रह्मानंद-रूपरस प्रदान करती है। यह अत्यन्त संसार-परायण व्यक्ति की वृत्तियों को भी अंतर्मुखी[1] बना सकती है। ब्रज के सुप्रसिद्ध रासधारी श्री बिहारीलाल के पुत्र राधाकृष्ण लिखित 'रास-सर्वस्व' ग्रन्थ के अनुसार घमंड देवजी ने रास के प्रयोजन का निरूपण इस प्रकार से किया है :—

---

१. तु० क०—'अति विषयिणाः श्रृंगाररसाकृष्टानामपि स्वाभिमुखीकर्त्तुं तादृशी लीलाश्चकार।'

१—विषयविदूषितचित्तानामनेकोद्योगबुद्धीनामन्तःकरणानि भगवद्विषयकानुकरणदर्शनेन शुद्धानि भवन्तीति प्रथमं प्रयोजनम् ।

२—स्त्रीशूद्राणामप्यनायासेन पुरुषार्थचतुष्टयं भवत्विति द्वितीयं प्रयोजनम् ।

३—अनेक साधनैर्योगादिभिर्भगवद्दर्शनार्थं यतमानानामपि दुर्लभं सुखं सुलभं भवत्विति तृतीयं प्रयोजनम् ।

४—युगहेतुकविपरीतकालेन जातानां राजसतामसबुद्धीनां सात्विकबुद्धिजननं चतुर्थं प्रयोजनम् ।

५—स्वतःशुद्धैरपि व्रजवासिभिरेव स्वभरणं त्रैलोक्यपवित्रं चैद्द्वारेण संपादनीयमिति पंचमं प्रयोजनम् ।

अर्थात् इसका सबसे पहला प्रयोजन यह है कि जिन लोगों के चित्त विषयों से दूषित हो गये हैं, और जिनकी बुद्धि अनेक उद्योगों में फँसी हुई है, उनके अन्तःकरण भगवद्विषयक अनुकरण के दर्शन द्वारा शुद्ध हो जाते हैं।

इसका दूसरा प्रयोजन यह है कि स्त्रियों और शूद्रों को भी अनायास ही चारों पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं।

तीसरा प्रयोजन यह है कि जो लोग योग आदि अनेक साधनों द्वारा भगवद्दर्शन के लिए प्रयत्न करते हैं, उनके लिए भी दुर्लभ सुख सुलभ हो जाता है।

चौथा प्रयोजन यह है कि कलियुग के परिणामस्वरूप विपरीत परिस्थिति में उत्पन्न होने वाले तथा राजस-तामस बुद्धिवाले जनों में सात्विक बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

पाँचवां प्रयोजन यह है कि ब्रजवासी लोग स्वयं शुद्ध होने पर भी इसके द्वारा त्रैलोक्य पवित्र स्वभरण—जीवन या आजीविका—प्राप्त करते हैं।

रासलीला के ये परम उदात्त और उच्च प्रयोजन जिस सौकर्य के साथ सिद्ध होते हैं, उसका श्रेय इसके रङ्गमंच और अभिनय की उस व्यवस्था को है, जिसमें कृत्रिम उपकरणों पर निर्भर रहने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं होती। रासलीला का रंगमंच जटिलता से रहित और सादा होता है, और बहुत थोड़े पात्रों से सब काम निकाल लिया जाता है। रास के उद्भव और विकास का क्षेत्र ब्रजभूमि विशेषतया वृन्दावन माना जाता है; और वहाँ रास देव-मन्दिरों में होता है, जो वास्तव में उसके लिए उपयुक्त स्थान हैं। वैसे वह अन्य सार्वजनिक स्थानों और भावुकजनों के घरों में भी होता है। मन्दिर के प्रांगण में अथवा रास के लिए निर्धारित स्थान में प्रायः बीस-बाइस फीट लम्बी और अठारह-बीस फीट चौड़ी जगह रास के लिए छोड़ दी जाती

है जिसके तीनों ओर दर्शकों के बैठने के लिए स्थान रहता है, इसे रासमण्डल कहते हैं। उसी के एक सिरे पर बीच में एक चौकी रखकर उस पर सिंहासन स्थापित किया जाता है। सिंहासन के आगे एक पीले हरे अथवा अन्य किसी रङ्ग का पर्दा डाल दिया जाता है, जो छल्लों के सहारे एक रस्सी से बँधा रहता है जिससे वह यथावसर सरकाया जा सके। कभी-कभी ऐसा पर्दा नहीं भी होता और उसके स्थान पर दो व्यक्ति एक चादर तान कर खड़े हो जाते हैं। सिंहासन के ठीक सामने रास मण्डल के दूसरे छोर पर समाजी बैठते हैं। सबसे पहले 'समाजी' मंगलाचरण प्रारम्भ करते हैं। मङ्गलाचरण में सूर का 'चरण कमल बन्दौं हरि राई' और इसी प्रकार के संतों के अन्य पद तथा श्रीमद्भागवत आदि के मनोहर श्लोकों का गायन होता है। शास्त्र की आज्ञा तो यह है कि रासलीला का आरम्भ होने के प्रथम अनुष्ठान की एक निश्चित विधि का पालन किया जाय। यह विधि बृहत् गोमती तंत्र, रासोल्लास-तंत्र राधातंत्र, तथा रहस्य-पुराण आदि ग्रन्थों में दी गई हैं। निर्धारित मंत्रों से आचमन, प्राणायाम, विनियोग, न्यास और ध्यान के बाद वृन्दादेवी, यमुना, चन्द्रमा आदि का, रास के लिए आवाहन किया जाय, फिर राधाकृष्ण के स्वरूपों की रास-स्थल में प्रतिष्ठा की जाय और उनका अनेक उपचारों से पूजन हो।[१] यह कर्म-कांड साहित्यक नाटकों के महेन्द्र-ध्वज स्थापन, रंग-देवता-पूजन और नान्दी आदि से मिलता है। पर जिस प्रकार आज कल नाटकों में उसके पूर्व-रंग का लोप हो गया है, उसी प्रकार रासलीला में भी इस विधि का पालन होता प्रायः कहीं नहीं दिखाई देता है। कोई-कोई रासधारी—सब नहीं—घट-स्थापन तो कर लेते हैं पर तुरन्त ही मंगलाचरण प्रारम्भ हो जाता है और उक्त कर्मकाण्ड छोड़ दिया जाता है।

इधर मंगलाचरण चलता रहता है और उधर परदे के पीछे सखी-स्वरूप[२]—गोप-वधुएँ—आकर सिंहासन के नीचे चौकी पर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। पश्चात् राधा और कृष्ण पधारते हैं और सिंहासन पर समासीन होते हैं। सखी-स्वरूप राधा और कृष्ण के पधारने की सूचना 'जय हो' 'बलिहार' आदि घोषों से देते हैं। परदा हटा दिया जाता है और वंशी बजाते हुए कृष्ण तथा राधा की संयुक्त छवि की एक मनोहर झांकी दर्शकों को मिलती है। फिर आरती होती है। सखियों में से ही एक आरती करती है, और अन्य आरती

१—दे० 'रास-सर्वस्व' ग्रंथ की पंचम निधि।

२—रास में अभिनेताओं के लिए बड़े आदर पूर्वक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, सखियों के लिए 'सखी-स्वरूप' और श्री राधा के लिए 'स्वामिनी-स्वरूप' शब्द का प्रयोग होता है।

कुंजबिहारी की..................' आदि पद गाती हुई नृत्य करती हैं। आरती के बाद परदा फिर डाल दिया जाता है। सखियाँ परदे के पीछे कृष्ण के पास जाती हैं और ताम्बूल आदि से सत्कृत होकर लौट आती हैं। परदा फिर हटा लिया जाता है, और पुनः एकासन समासीन राधाकृष्ण की झाँकी दिखाई देती है। अब सब 'सखियाँ' उन्हें नृत्य और गीत के अनेक प्रकार के उपक्रमों द्वारा प्रसन्न करने का प्रयास करती हैं। अपना नृत्य-गीत समाप्त करके वे यथास्थान रास-मण्डल में बैठ जाती हैं। तब उनमें से एक उठकर कृष्ण से ऋतु की मनोहरता, शरद-रात्रि की स्निग्ध-शीतलता तथा यमुना-तट और निकटस्थ कुन्जों की शोभा का प्रभावशाली वर्णन करती हुई एक संस्कृत के श्लोक में उनसे रासोत्सव में पधारने की प्रार्थना करती है। उस श्लोक का अंतिम चरण रहता है '..................रासोत्सवे गम्यताम्', जिसे अन्य सब 'सखी-स्वरूप' भी एक स्वर से दोहराते हैं। 'प्रार्थिनी सखी' इसका आशय ब्रजभाषा गद्य में भी निवेदन करती है। यह प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्ण श्रीराधा से रासोत्सव में पधारने का सविनय अनुरोध करते हैं। राधा की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर युगल स्वरूप रास-मंडल में उतरते हैं। श्रीकृष्ण बंशी के कुछ स्वर छेड़कर रास के आरम्भ का संकेत करते हैं।

यह संकेत पाकर 'समाजी' 'आली एरी नाचत मदनगोपाल..........' और 'नाचत लालबिहारी नचवत हैं सब नारी' आदि पद गाते हुए साथ में नृत्य के कुछ बोल निकालना प्रारंभ करते हैं। रास-मण्डल में एक ओर अकेले श्री कृष्ण खड़े होते हैं, और दूसरी ओर श्रीराधा को बीच करके 'सखियाँ'। श्री कृष्ण वंशीवादन करते हुए नृत्य की चारियाँ बाँधते और कुछ गतियाँ लेते हैं, और दूसरी ओर 'सखियाँ' भी नृत्य प्रारंभ करती हैं। नृत्य करते हुए सब मिलकर मंडल का निर्माण करते हैं और फिर मंडल-प्रयोग के अनेक प्रकार प्रदर्शित करते हैं। यह मंडल-नृत्य क्रमशः विविध रूप धारण करता हुआ हस्त-संचार और गति-प्रचार के अनेक प्रयोगों द्वारा अधिकाधिक मनोहारी बनता है। नृत्य करते-करते कुछ समय बाद श्रान्त होकर राधा बैठ जाती हैं और उनकी सखियां भी यथास्थान खड़ी हो जाती हैं। इस अवकाश, में श्रीकृष्ण श्रीराधा का नृत्य के कारण विपर्यस्त श्रृंगार सँवारते हैं। श्रम-परिहार हो जाने पर राधा पुनः रास-मंडल में प्रवेश करती हैं और नृत्य आरम्भ होता है। पुनः नृत्य प्रायः मण्डल में ही होता है, जिसमें परिक्रमण और ललितसंचरण

---

१. तु० करिये भा. ना. शा., अ० १२:—

'एतानि खंडानि समंडालानि, युद्धे नियुद्धेच परिक्रमे च।
लीलाङ्गमाधुर्य पुरस्कृतानि कार्याणि वाद्यानुगतानि तज्ज्ञैः।

के साथ-साथ हाथों-पैरों के उत्क्षेप, प्रक्षेप, उपसर्पण, अपसर्सण, और आवर्त्तन आदि प्रयोग भी चलते रहते हैं। यह समस्त व्यापार समाजियों के वादन-गायन का अनुगत रहता है।[१] नृत्य में मंडल-विधान की विविध विधियों का जो विस्तृत विवरण भरत के नाट्य-शास्त्र में उपलब्ध है, रास-नृत्य में उनमें से कुछ का कुछ आभास तो मिल ही जाता है, भले ही ये अभिनेता और नर्त्तक प्राय: उनका शास्त्रीय स्वरूप और शुद्ध प्रयोग न जानते हों। इस नृत्य के बीच कुछ सरल संगीतात्मक उक्ति-प्रत्युक्ति भी रहती है, जिसका रूप इस प्रकार का होता है:-

राधा—एरी आली नाचत लाड़िलो नाचत.......................।
कृष्ण—एरी आली, नाचत लाड़िली नाचत.......................।
राधा —एरी आली, नाचत, यशुमति बारो नाचत..............।
कृष्ण—एरी आली नाचत, वृषभानु दुलारी नाचत..................।
सखियाँ—...........नाचत ,नाचत, नाचत, लाड़िलो, नाचत, नाचत, नाचत लाड़िली ....।,

इस प्रकार यह रास लगभग एक घंटे तक अवश्य चलता है, इसकी समाप्ति पर 'स्वरुप' लीला की तैयारो के लिए नेपथ्य में चले जाते हैं और सिंहासन के सामने पर्दा डाल दिया जाता है।

यह नित्य रास कहा जाता है। पहले यह रास हो लेता है, तब कोई अन्य लीला होती है। रास और लीला का यह संयोग, 'रास-लीला का अनुल्लंघनीय विधान है, और संभवत: यही इसके नामकरण का भी कारण है। कभी-कभी महारास भी होता है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी में है और जो शरद्-पूर्णिमा को यमुना-पुलिन पर संपन्न हुआ माना जाता है। इस महारास के आरंभ के पूर्व 'समाजी' सूर और नंददास आदि के इस प्रसंग के प्रास्ताविक एवं अवसरोपयुक्त पद गा-गा कर शरद के पूर्णचन्द्र की पीयूष-स्निग्ध ज्योत्स्ना में यमुना-तटवर्ती कदम्बकुंज में वंशीवादन-निरत कृष्ण की कल्पना प्रेक्षकों के मन में जगा देते हैं। उसी समय मधुर स्वर से वंशीवादन करते हुए कृष्ण रंग-भूमि (रास-मंडल) में पधारते हैं। उनकी वंशी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ अपने घरों को छोड़, पिता, पुत्र, पति सब की अवहेलना कर श्रीकृष्ण से मिलने के लिए दौड़ पड़ती हैं। पर श्रीकृष्ण अर्द्धरात्रि में इस प्रकार समाज और धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने के लिए उनकी तीव्र भर्त्सना करते हैं। कृष्ण के कठोर वचन उन्हें मर्मान्तिक पीड़ा पहुँचाते हैं और फिर उनका तथा गोपियों का बड़ा विदग्ध प्रश्नोत्तर चलता है। कृष्ण उन्हें सामाजिक सदाचार का

डा० डिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
३५८३

आदर्श बतलाते और उस पर दृढ़ रहने की शिक्षा देते हैं, पर गोपियाँ प्रेम और भक्ति में सर्वस्व समर्पण को ही सदाचरण की चरम परिणति मानती हैं और कृष्ण को निरुत्तर कर देती हैं। उनके अनन्य निष्काम प्रेम को देखकर अन्ततः श्रीकृष्ण उनके साथ महारास में प्रवृत्त होते हैं। पूर्व वर्णित नृत्य गीतादि के विविध प्रयोग इस अवसर पर अत्यधिक तीव्रता, व्यापकता और उत्कर्ष प्राप्त करते हैं। कृष्ण अपनी योगमाया के बल से अनेक रूप धारण करते हैं और मंडल-नृत्य प्रारम्भ होता है जिसमें दो-दो गोपियों के बीच में कृष्ण रहते हैं।[१] नृत्य के साथ-साथ समाजियों के द्वारा गाये जाने वाले नन्ददास और सूर आदि के रास-लीला के पदों की शक्ति से, हम यह अनुभव करते चलते हैं कि इस समय देवता यह लोकोत्तर दृश्य देखने के लिए अपने विमानों पर आकाश में विराज मान हैं, जिनमें ब्रह्मा और शिव भी हैं। वे हर्षित होकर पुनः-पुनः पुष्पवर्षण कर रहे हैं (दर्शक प्रसन्न हो पुष्प-वर्षा करते भी हैं)। स्वर और ताल, संगीत एवं नृत्य के इस सामंजस्य ने चरों को अचर और अचरों को चर बना दिया है, यमुना का प्रवाह रुक गया है, पवन स्तंभित है, चन्द्रमा और नक्षत्रों की गति मारी गयी है। इसी बीच अपने रूप का अभिमानी काम रास-मंडल में आता है परन्तु श्रीकृष्ण के रूप को देख कर मूर्च्छित हो जाता है और रति उसे उसी अवस्था में उठा ले जाती है। यह प्रसंग 'मन्मथ-मथन-लीला' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कुछ समय तक रास चलने के उपरान्त भक्त वत्सल श्रीकृष्ण द्वारा अनेक प्रकार की सेवायें और परिचर्या प्राप्त कर गोपियों को गर्व हो जाता है, कृष्ण यह जानकर तत्काल राधा के साथ अन्तर्धान हो जाते हैं। इधर गोपियाँ उनके

१—इस अवसर पर 'समाजी' प्रायः अधोलिखित तथा ऐसे ही अन्य पद गा-गा कर दृश्य की अनुभूति तीव्र करते रहते हैं:—

राधयो राधयोर्मध्यतो मध्यतो माधवो माधवौ मंडले मंडले।
हेम कल्पलता गोपी बाहु भिः कण्ठमालया।
तमालश्यामलः कृष्णो घूर्णिते रासलीलया ॥

× × ×

अंगनामंगनामंतरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणांगना।
इत्थमाकल्पिते मंडले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः।

× × ×

मानों भाई घन घन अन्तर दामिन।
घन दामिनि दामिनि घन-अन्तर सरद सुहाई जामिनि।

विरह में विलाप करती रह जाती हैं और उधर श्रीकृष्ण राधा के साथ एकान्त वन-विहार करते हैं। राधा के मन में अहंकार प्रवेश करता है और वे अत्यधिक श्रान्ति-क्लान्ति के कारण चलने में असमर्थता प्रकट करती हुई, कृष्ण के कन्धों पर आरूढ़ होने का आग्रह करती हैं। श्रीकृष्ण प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु ज्यों-ही श्री राधा उनके कन्धों पर बैठने का उपक्रम करती वैसे ही वे 'आओ, कन्धों पर बैठ जाओ' कहते हुए एक मंद स्मित का आलोक विखेर कर अन्तर्धान हो जाते हैं,[1] और श्री राधा रोती हुई अकेली विलाप करती रह जाती हैं। इसी समय श्रीराधा और श्रीकृष्ण को खोजता और विलाप करता हुआ, गोपियों का समूह भी वहाँ पहुँचता है। दु:खिनी राधा को लेकर तरु, तृण, लता-गुल्म तक से कृष्ण का पता पूछती हुई गोपियाँ यमुना तट पर आती हैं। वहां से श्रीकृष्ण के नाम रूप का स्मरण और चिन्तन करती हैं, तथा उनकी लीलाओं का अभिनय करके अपनी व्यथा शान्त करने का प्रयत्न करती हैं। फिर भी कृष्ण नहीं आते, तो वे मूर्च्छित होकर गिर जाती हैं। अब कृष्ण लौटते हैं, तो गोपियों की भी संज्ञा लौटती है। श्रीकृष्ण गोपियों के प्रति उनके अनन्य प्रेम के लिए आभार प्रकट करते हैं और उनके साथ पुन: रास में प्रवृत्त होते हैं। पूर्ववत् मंडल-नृत्य होता है, पर इस महारास का अनुष्ठान श्रीकृष्ण और गोपियों के अनेकानेक स्वरूप मिलाकर पूर्ण करते हैं। अतएव इसका आयोजन कई-कई रास-मंडलियाँ मिलकर करती हैं, और तभी कृष्ण के अनेक स्वरूपों और बहुसंख्यक गोपियों की आवश्यकता की पूर्ति हो पाती है। जिस दिन रास होता है, उस दिन अन्य कोई लीला नहीं होती, पर नित्य रास के बाद कोई-न-कोई लीला अवश्य होती है।

लीला में भगवान कृष्ण के जीवन का कोई एक प्रसंग लेकर उसका अभिनय किया जाता है। प्राय: विशुद्ध ब्रज-लीलाओं का ही अभिनय होता है। ब्रज-लीलाओं से तात्पर्य है, कृष्ण के जन्म से लगाकर मथुरा प्रवास तक की लीलायें। कट्टर सिद्धान्तानुयायी वृन्दावन के रासधारी मथुरा की लीलाएँ नहीं करते। मथुरा प्रवास सम्बन्धी केवल एक उद्धव-लीला ही अधिक होती है। कुछ रास-

---

१. प्राय इस अवसर पर 'समाजी' समवेत 'स्वर से' श्रीमद्भागवत के अधोलिखित श्लोक क पाठ करते हैं:—

एवमुक्तः प्रियामाह स्कंधमारूह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥
(श्री० म० भा० १० स्कन्ध)

धारी मथुरा प्रवास की 'कंस-बध' आदि लीलाओं का अभिनय भी आदेश पाने पर कर देते हैं, पर उनमें रासरसिकों तथा अच्छे रासधारियों की रुचि भी प्रायः कम ही पायी जाती है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि जिन संतों और महात्माओं द्वारा लीलाभिनय के इस स्वरूप का विकास हुआ, उनकी दृष्टि विशुद्ध आध्यात्मिक थी और वे इसे अपनी भक्ति साधना का एक अनिवार्य अंग मानते थे। अतः इस परंपरा में कृष्ण के ब्रज-जीवन से सम्बन्धित माधुर्य भाव की लीलाएँ ही अधिक ग्रहण की गयीं। इन लीलाओं का मूलाधार श्रीमद्भागवत ही है, पर अभिनय में सूर और नन्ददास जैसे कवियों की वाणी का ही व्यापक उपयोग होता रहा है। आगे चलकर इसी लीलाभिनय से प्रेरणा ग्रहण करके एक विशेष प्रकार के लीला-साहित्य का निर्माण हुआ, उपरूपकों में से कुछ के लक्षण बीजरूप में विद्यमान हैं।

लीला कोई हो, उसके अभिनय में लगभग तीन घंटे का समय लगता है और अधिक-से-अधिक छः सात अभिनेताओं से ही सब काम निकाल लिया जाता है। प्रातः चार 'सखी स्वरूप' रहते हैं (कुछ रास मंडलियों में तो मुझे तीन ही मिले) और 'स्वामिनी-स्वरूप' (राधा) तथा 'प्रभु स्वरूप' (कृष्ण) के लिए दो अन्य अभिनेता अपेक्षित होते हैं। इसी प्रकार एक दो 'सखा-स्वरूपों' की भी आवश्कता पड़ती है। प्रायः देखा गया है कि यदि किसी लीला में अधिक पात्रों की आवश्यकता होती है, तो सखियों का का अभिनय करने वाले ही यथावकाश दुहरी-तिहरी भूमिका सम्हाल लेते हैं। यदि नन्द-यशोदा जैसे कुछ वयोवृद्ध 'स्वरूपों' की आवश्यकता हुई, तो समाजियों में से कुछ लोग वह काम चला लेते है।

अलग-अलग पात्रों के अलग-अलग वेष होते हैं। कृष्ण कई रंग वाला एक लम्बा वस्त्र पहनते हैं जिसे कटि-काछनी कहा जाता है और उस पर पटुका बंधा रहता है। पीठ पर लम्बी कृत्रिम चोटी लहराती रहती है, मस्तक पर मयूर पंख और ब्रजरत्न, कानों में कुण्डल, तथा नाक में बुलाक रहता है। वह हर समय हाथ में बंशी धारण किए रहते हैं और कभी कटि काछनी के स्थान पर बगल-बन्दी भी पहनते हैं। राधा के वेश में साड़ी और उत्तरीय के अतिरिक्त नाक में बुलाक और मस्तक पर चन्द्रिका तथा बन्दनी रहती है। गोपियों का वेश सामान्यतः राधा के समान ही रहता है, केवल उनके मस्तक पर चन्द्रिका और बन्दनी नहीं रहती, उनके स्थान पर भृकुटी रहतो है। नन्द एक वृद्ध के वेष में रहते हैं, उनके श्वेत श्मश्रु और निकला हुआ पेट रहता है। यशोदा एक सतत अवगुंठनवती वृद्धा के वेश में दिखाई जाती हैं। यदि यशोदा का कार्य थोड़ा ही होता है, तो 'समाजियों' में से कोई व्यक्ति सिर से पैर तक एक ओढ़नी ओढ़ कर मुँह छिपाकर बैठ जाता है और उनका अभिनय कर लेता है। बलराम बगलन्दी और

पीताम्बर पहनते और मस्तक पर मुकुट धारण करते हैं। 'सखा-स्वरूप' (गोप-बालक) केवल धोती पहनते हैं, उनके शरीर खुले रहते हैं, गले में गुंजमाला, कन्धे पर कम्बल और हाथ में लकुट रहता है। इनमें से केवल मनसुखा अथवा मधुमङ्गल के वेश-विन्यास में कुछ विशिष्टता रहती है। मनसुखा रासलीला का विदूषक है, अतएव कुछ रास-मंडलियाँ उसकी वेश-रचना भी बहुत विकृत कर देती हैं। उसके मस्तक पर फटी-पुरानी पगड़ी और किनारी का चीरा रहता है, लम्बी मूछें और शरीर में अनेक कृत्रिम भंग रहते हैं। संस्कृत-नाटकों के विदूषक की तरह वह बड़ा पेटू भी होता है। कुछ रास-मंडलियाँ उसका वेश प्रायः बलराम जैसा रखती हैं और वह अपने पेटूपन के प्रदर्शन के द्वारा ही हास्य की सृष्टि करता है। इसी प्रकार रासलीला के अन्तर्गत दृश्य विधान भी बड़ी सरल युक्तियों से किया जाता है। कृष्ण की नटवर मुद्रा के प्रदर्शन के लिए कुछ लोग उनके पीछे अनेक रंगों के कपड़े तान कर खड़े हो जाते हैं। झरोखे का दृश्य दिखाने के लिए दो आदमी एक वस्त्र तान लेते हैं और गोपियाँ उसके पीछे से झाँकती है। कुञ्ज का दृश्य दिखाने के लिए रंगमंच—सिंहासन के पीछे एक शाखा लगा कर उसपर बहुत से रंग-बिरंगे वस्त्र तान दिये जाते हैं।

सारांश यह कि नितान्त सादे और छोटे रङ्गमंच पर कम-से-कम पात्रों से बिना उपयुक्त आहार्य और दृश्य-दृश्यान्तर-विधान की सुविधा के चरम आध्यात्मिक रस-निष्पत्ति का यह प्रयास सम्पन्न होता है।[1] लेखक ने स्वयं उद्धव-लीला के अवसर पर हजारों दर्शकों को, जिनमें अच्छे विद्वान् और ऊँची अवस्था के संत थे, करुण-विगलित होकर निरंतर अश्रुपात करते देखा है।[2] इस सफलता का मूल करण लीलाओं को सरस कथा-वस्तु और उसका सरसतर नाटकीय विन्यास है। यद्यपि इनका कथानक छोटा होता है, पर उनमें कार्य की तीनों अवस्थायें-प्रारम्भ, प्रात्याशा और फ़लागम स्पष्ट रूप से मिलती है। प्रारंभावस्था में ही प्रयत्न का योग रहता है और फलागाम में निर्यताप्ति का समावेश।

---

१. तु० क० दिनेशचन्द्र सेन लिखित 'हिस्ट्री आफ बंगाली लैंग्वेज ऐण्ड लिटरेचर', पृ० ७३३—

"........Without scenery, without the artistic display of costumes, could rouse emotions which nowadays we scarcely experience, while witnessing semi- European performances given on the stages of calcutta theatres."

२. तु० क० वैशाख कृष्ण मंलगवार को कलकत्ता के 'लोक-मान्य' में 'रास' के संबंध में रमेशचन्द्र त्रिपाठी का लेख, कल्याण का 'वेदान्ताङ्क' भाग ११, १९९३ वि०, दिव्य मूर्तियों का साक्षात्कार।

इनमें मुख और निर्वहण संधि की योजना विशेष रूप से बड़ी रमणीय आर विचित्र होती है, इसलिए आरम्भ और उपसंहार दोनों बड़े चमत्कारी होते हैं। बीच-बीच में कितने ही सुन्दर संध्यंगों का स्फुरण स्वतः होता चलता है। कौशिकी की तो ये लीलायें कोष ही हैं और नर्म आदि विविध अंगों का ऐसा उन्मेष तो अनेक प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों में भी उपलब्ध नहीं होता।

इन लीलाओं की कथानकों की सरसता बहुत कुछ इनके कथोपकथनों पर अवलंबित है, जो गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। इन कथोपकथनों में श्रीमद्भागवत के श्लोकों तथा भक्त कवियों के पदों का भी प्रयोग होता है, पर पात्र प्रायः उनका आशय ब्रजभाषा में समझा देते हैं। श्लोकों और पद्यों के अतिरिक्त वार्त्तालाप में विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग होता है। जिसे ब्रजभाषा की विश्वविश्रुत नैसर्गिक माधुरी का आस्वादन करना हो, उसे रासलीला अवश्य देखनी चाहिये। कभी-कभी लीला के उपोद्घात अथवा उपसंहार में किसी ब्याज से लीला का आध्यात्मिक रहस्य एवं कृष्ण भक्ति का महत्त्व तथा तत्त्व भी कोई-न-कोई पात्र अवश्य समझा देता है। लीला कभी दुःखान्त नहीं होती, और न अंत में कोई जवनिका ही गिरती है। अत्यंत करुण एवं साद्यन्त वियोग-प्रधान उद्धव-लीला (भ्रमरगीत-प्रसंग) भी अंत में संयोगात्मक ही दिखाई जाती है। जब गोपियों को समझाते-समझाते उद्धव के ज्ञान का गर्व खर्च हो जाता है और राधा देवी की परम प्रेममयी मूर्ति देख कर वे संकोच में पड़ जाते हैं, तभी उनके अज्ञान और भ्रम को दूर करने वाली एक बड़ी विचित्र घटना घटित होती है। प्रवाल से भी अधिक सुकुमार चित्त वाले मोहन गो-चारण करके वन के अंतराल से आते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनके केश-पाश गोरज के कारण कर्बुर हो गये हैं, और वे अपने मुख की अशेष मृदुता और शोभा को वंशी-ध्वनि में ढालते हुए से 'नटनायक की विकट लटक और गति' से उस स्थान पर आते हैं, जहाँ अवनतवदना अश्रुमुखी राधादेवी गोपियों से घिरी हुई उद्धव का ज्ञान और योग का संदेश सुन रही हैं। वे बड़ी आतुरता और आकुलता से दौड़ कर बड़ी मनुहार के साथ राधा देवी का कुम्हलाया हुआ मुख-कमल छूते और उनके आँसू पोछते हैं। इस प्रकार उद्धव को इस लीला के अन्त में राधा-कृष्ण के एकत्र दर्शन हो जाते हैं। उद्धव को यह ज्ञात हो जाता है कि ब्रज भगवान् की 'नित्य बिहार' की स्थली है और राधादेवी भगवान् पुरुषोत्तम कृष्ण की अंतरगा, अभिन्ना, स्वरूपा आह्लादिनी शक्ति हैं। गोपियाँ राधा देवी की काय-व्यूह हैं, इसलिए वे भी वही सुख प्राप्त करती हैं जिसकी अधिकारिणी राधा देवी हैं।

ब्रज[1] के इसी उच्चातिउच्च लीला-रहस्य को सूरदास जी ने अपने भ्रमरगीत-प्रसंग के एक पद में समझाया है।

ऊधौ कहियौ यह संदेस।
लोग कहत कुबिजा की प्रभुता, तुम सकुचहु जनि लेस।
कबहुँक इत पग धारि सिधारहु, हरि उहि सुखद सुबेस।
हमरे मन रंजन कीन्हे तैं, ह्वै हौ भुवन नरेस।
तब तुम इत ठहराइ रहौगे, देखौगे सब देस।
नहिं बैकुंठ अखिल ब्राह्मांडहु, ब्रज बिनु सब कृत क्लेश।
यह किहि मंत्र दियौ नंदनंदन, ब्रज तजि भ्रमत विदेस।
जसुमति जननी प्रिया राधिका, देखै औरहुँ देस।
इतनी कहत कहत श्यामा पै, कछू न रह्यौ अवसेस।
मोहनलाल प्रबाल मृदुल-मन, तच्छन करी सुहेस।
को ऊधौ को दुसह बिरह-ज्वर को नृप नगर सुरेस।
कैसौ ज्ञान कह्यौ कहि कासौं, किहिं पठयो उपदेस।
मुख मृदु छबि मुरली रव पूरत, गोरज करबुरकेस।
नटनायक गति बिकट लकट तब, बन तैं कियौ प्रवेस।
अति आकुल अकुलाइ धाइ पिय पोंछत नयन कुसेस।
कुम्हिलानौ मुख-पद्म परस करि, देखत छबिहिं बिसेस।
सूर सोम सनकादि इंद्र, अज, सारद निगम महेस।
नित्य बिहार सकल सुर भ्रम गति, कह गावै मुख सेस।[2]

अखिल ब्रह्मांड में ब्रज के समान कुछ नहीं, वैकुंठ भी उसकी समता नहीं कर सकता। भागवती भक्ति की पराकाष्ठा का ही दूसरा नाम ब्रज है, इसलिए प्रत्येक ब्रज-लीला के अंत में राधा और कृष्ण की एकासन झांकी अवश्य दिखायी जाती है। प्रत्येक लीला इस परमोच्च दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अधिष्ठान को दृढ़ता से पकड़े रहती है। लोकदृष्टि से इन रासलीलाओं का सबसे बड़ा प्रकर्ष यह है कि इन्होंने ऊँची से-ऊँची और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों को जीवन का अभिन्न अंग बना दिया है। "आचार्य श्री नन्ददुलारे बाजपेयी जी ने

१—'.........शृणुतं दत्तचित्तौ मे रहस्यं ब्रजभूमिजं। ब्रजनं व्याप्तिरितुक्त्या व्यापनाद ब्रज उच्यते। गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं-ब्रज उच्यते। सदानंदं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्।

(श्रीमद्भागवत महात्म्य अ० १। १९, २०।)

२—सूरसागर द्वितीय खंड, दशम स्कंध ४०७८ ॥ ४६९६ ॥

रासलीला के महत्त्व का निरूपण करते हुये लिखा है कि "कोई ऐसा स्थान नहीं, कोई प्रसंग नहीं, कोई पद नहीं, कोई शब्द नहीं जो श्री कृष्ण की महिमा में अन्तर्लीन न हो। सब ओर से सर्वस्व समर्पण हो जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण की अखंड सत्ता ही दृष्टिगत होती है। रासलीला इसका सांकेतिक निदर्शन है।"[२]

विश्लेषण करने पर रास-लीलायें तीन प्रकार की दिखायी पड़ती हैं—(१) नन्द-भवन की लीलायें, जिनमें कृष्ण का वात्सल्य दिखलाया जाता है, (२) गोष्ठ की लीलायें, जिनमें सखाओं के साथ कृष्ण के वन-विहार और गोचारण आदि के प्रसंग रहते हैं, और (३) निकुञ्ज-लीलायें जिनमें श्रीकृष्ण, राधा, तथा गोपियों के प्रेम की प्रगाढ़ता तथा गुह्यता अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है, नन्द-भवन और गोष्ठ की लीलाओं के अन्तर्गत कृष्ण-जन्म, पूतनावध, शकटासुर वध, शिव का योगी वेष-धारण, कालीय-दमन, गोबर्धन-धारण, ब्रह्मा व्यामोह, स्वप्नाध्याय-लीला और दान-लीला जैसी सैकड़ों लीलायें आता हैं, जिनका अभिनय बहुत प्रचलित और लोकप्रिय है। ये लीलायें वात्सल्य रसाश्रित हैं, और इनका आधार प्रमुखतः अष्टछाप के कवियों की रचनायें हैं, जो सब महाप्रभु बल्लभाचार्य के शिष्य थे। अनेक अन्य ग्रंथों के आधार पर भी आज कल इन लीलाओं का अभिनय होता है, जिनमें 'ब्रजविलास', 'ब्रज विहार' और 'लाड़सागर' आदि प्रमुख हैं। निकुंज लीलाएँ भी हमें दो प्रकार की मिलती हैं। इनमें से एक प्रकार की ये हैं, जिनमें श्रीराधा और श्रीकृष्ण के प्रणय-संबध को व्यंजित करने वाली विविध घटनाओं को नाटकीय रूप देकर उनका अभिनय किया जाता है, और जिनके अंतर्गत छद्मलीलाओं का स्थान मुख्य है। दूसरे प्रकार की निकुंज लीलायें वे हैं, जिनमें उनके प्रणय-जन्य विविध अदृश्य और अमूर्त आवेगों अथवा अनुभूतियों में से किसी एक को चुन कर अभिनय द्वारा उसे मूर्त्त और दृश्य बना दिया जाता है। पहले प्रकार की निकुंज-लीलाओं के अन्तर्गत, चीर-हरण-लीला, बंशी-लीला, राजदान-लीला, नौका-लीला, गौनेवारी-लीला, वीणावारी-लीला और जोगी-लीला आदि अनेक प्रकार के प्रणय-प्रसंग आते हैं, जो आज-कल ब्रजके रासधारियों में बहुत प्रचलित हैं। इन लीलाओं के दूसरे वर्ग में भौंरा-लीला सर्वाधिक लोक प्रिय है। यहाँ प्रत्येक वर्ग की एक-एक लीला के कथानक का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है, जो उनकी अंतर्निहित विशेषताओं के निरूपण में सहायक होगा।

श्री राधा के साथ एक दिन गोपियाँ दही बेचने यमुना पार मटहरा ग्राम तक चली जाती हैं। बहुत दूर जाने पर भी उस दिन उनकी बिक्री कम

२—महाकवि सूरदास पृ० ११०

होती है, अतएव उन्हें बड़ा दु:ख होता है। इसी बीच दिन ढल चलता है। वे लौट कर जबतक यमुना-तट तक पहुँचती हैं, तब तक सूर्य भी अस्ताचल पर पहुँच जाते हैं। दैवयोग से उन्हें तट पर कोई नौका भी नहीं मिलती, अतः उनकी विवशता चिन्त्य होकर इस प्रकार प्रकट होती है—

'मुंद्यो चहत पिय दूर नगरिया,
ना मल्लाह न कोई दूर नवरिया,
रही हैं पार की पार गुजरिया ।।
कहा कहेंगी युवती ग्राम की बाट निहार निहार गुजरिया ।।

इस प्रकार सोचती-विचारती हुई ये सब किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहीं हैं, उसी समय कृष्ण एक छोटे से बालक का रूप धारण करके एक छोटी नौका खेते हुये दूर पर धारा के मध्य में दिखाई देते हैं। वर्षा के कारण नदी बढ़ी हुई है, एक गोपी वृक्ष पर चढ़ कर उन्हें ध्यान से देखती और फिर केवट समझ कर पुकारती है। निकट आकर वे उन्हें पार ले जाना स्वीकार नहीं करके, कहते हैं "मेरी यह छोटी-सी सुन्दर नौका तुम्हारे वस्त्राभूषणों और दधि-भण्डादिकों के भार से डूब जायगी। क्या तुम देखती नहीं पूर्व दिशा का प्रभंजन प्रखर से प्रखरतर होकर बह रहा है, यमुना की तरंगे उत्ताल होती जाती है, मेरे हाथ काँप रहे हैं और बल्ली बार-बार छूट-छूट जाती है"। बहुत अनुनय-विनय के पश्चात वे इस शर्त पर उन्हें नौका पर बैठाने को तैयार होते हैं कि पहले स्वामिनी उन्हें अपने चरण धो लेने दें। इस पर राधा कहती हैं कि मैं इस नीच जाति के धीवर को अपने शरीर का स्पर्श नहीं करने दूंगी। बहुत कहने-सुनने पर वे कृष्ण को अपने पैर धोने देती हैं। अब कृष्ण पुनः बाधा उपस्थित करते हुए कहते हैं कि मेरी नौका सब को एक साथ पार नहीं ले जा सकती, उसके डूब जाने की आशंका है, इसलिये उन्हें एक-एक कर के पार जाना होगा। गोपियाँ अनेक प्रकार से प्रार्थना करके और प्रलोभन देकर बड़ी कठिनाई से सब की सब एक साथ नौका में बैठने में सफल हो पाती हैं। नौका चलती है, तो केवट रूप धारी कृष्ण के नेत्र राधा के मुखचन्द्र के चकोर बन जाते हैं, इस पर राधा अप्रसन्न हो सखियों को उन्हें निवारण करने का आदेश देती हैं। इसी बीच नौका मध्य धारा में पहुंच जाती है और कृष्ण का मर्मालाप पुनः प्रारम्भ हो जाता है। वे गोपियों से कहते हैं, इन दधिभण्डों के भार से नौका बीच धारा में डगमगा रही है, सब गोरस मुझे खिला-पिला कर इन्हें यमुना में फेंक दो। नौका हल्की हो जायगी और मुझमें भी संतरण-शक्ति बढ़ेगी।' विवश होकर गोपियाँ वही करती हैं। किन्तु अब उनकी ओर से अन्य आपत्तियाँ उठायी जाती हैं। वे कहते हैं, अरे नौका का भार तो अब भी हलका नहीं हुआ। तुम्हारे इन

आभूषणों के भार से मेरी नौका विशेष आक्रान्ता है। इन्हें शीघ्र फेंको अन्यथा यह डूब जायगी। तुम्हारे संकोच का भार भी कम नहीं है, इसे भी दूर करो। जब तक संकोच है, तब तक तुम पार नहीं जा सकोगी।, गोपियाँ हारकर आभूषण उतार-उतार कर फेंक तो देती हैं, पर संकोच के निवारण के लिये क्या करें ? बड़ी विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दयार्द्र होकर कृष्ण कहते हैं कि अच्छा मैं एक मंत्र बताता हूँ उसे जपो। यही तुम्हें पार उतारेगा। मंत्र बताने, के ब्याज से वे राधा के कान में 'कृष्ण' शब्द का उच्चारण करते हैं और फिर उनको यह भी बता देते हैं कि वे ही कृष्ण हैं। इस लीला में संसार-सरिता को पार करने के लिये जिस त्याग और वैराग्य के सहित गुरुमन्त्र के सहारे की आवश्यकता है, उसका निरूपण बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। इसीलिये यह लीला भक्तों को बहुत प्रिय है और कभी-कभी इस पर अभिनय अनेक नौकाओं द्वारा रंगमंच बना कर यमुना में विशेष समारोह के साथ किया जाता है।

(२)
भौंरा-लीला

एक दिन यमुना में नौका बिहार करते हुये कृष्ण और राधा ने कमलों से एक दूसरे का श्रृंगार किया—

कमल के कंकन रचे पहुँची परम रसाल।
कमलनि के अङ्गद बने उर कमलनि का माल।
कमलनि के भूषण जहाँ कहाँ कनक मणि कांति।
कमलनि की शोभा निरखि नैन कमल न अघात।
कमलनि को नव कुँवर को कुवँरि करत सिंगार।
कमल-वरन की पाग पर, राखे कमल संवार।
कर्ण फूल कानन किये कलिका कमल मंगाइ।
कंठ माल नव कमल की कीनी अंग बनाइ।

किसी कमल से निकल कर एक भ्रमर पहले कृष्ण के सरोज माल पर गूंजता रहा, फिर, राधा के कमल मुख पर जाकर गुंजार करने लगा।

चंचरीक चखनि ते आगे ते टरै न नैंकु
चकित है प्यारी चल अंचल चलावहीं।
परम कुटिल ढीठ ढिग ते न न्यारी होत,
भामिनी अनखि भुज-लता सों उड़ावहीं।
तै सोई कंकन कल बाजत ललित गति,
साँवल कटाक्ष इत—उत फिरि आवहीं।

मधुप-समूह गानि होत है विकल ज्यों-ज्यों,
त्यों-त्यों मधुसूदन जू मन सचुपावहीं।

प्रियतमा को अत्यन्त विकल देखकर कृष्ण ने अपने लीलाकमल से उस—'मुख मोद मत्त' भ्रमर को उड़ा दिया और राधा से कहा—

सावधान हूजे प्रिया विकल होत केहि काज।
मधु-सूदन तो गृह गयो लीने संग समाज।

यह सुनते ही राधा मधु-सूदन का अर्थ कृष्ण समझ कर और उन्हें गया हुआ मान कर सहसा अत्यन्त व्याकुल हो जाती हैं, सामने बैठे हुये प्रियतम कृष्ण का ध्यान ही उन्हें नहीं रहता। अतएव वे अनेक प्रकार से विलाप-प्रलाप करने लगती हैं—

हा मधु-सूदन, हा मधुर, हा मनमोहन लाल।
अहो कुँवर लोचन कमल, गये कहाँ इहि काल।
कै भूली बंसी कहूँ, गये सुमन हित धाइ।
कै रूसे रस रूपने कै परिहास सुभाइ।
हो प्रीतम हो प्राणपति, अहो प्रेम-प्रतिपाल।
रहो कहाँ अब लों कुंवर बीति गयो बहुकाल।

राधा की यह विरहावस्था देखकर कृष्ण अत्यन्त विस्मित होते हैं, और आतुरता पूर्वक उन्हें कंठ से लगा लेते हैं। राधा को कण्ठ से लगाते ही उनकी भी वैसी ही दशा हो जाती है और वे भी विकल ह्वो कर पूछने लगते कि मेरी प्रयितमा कहाँ है—

जब सुकुवारी भरि लीनी अंकवारी,
देखि तहाँ ही बिहारी जू की गति न्यारी ह्वै गई।
कहुँ डीठ डारी कहुँ श्रमकनकारी,
कहुँ पुलक-पनारी सब अंगन में छै गई।
विकल हैं भारी कछु सुधि न सँवारी,
कहें कहाँ मेरी प्यारी जब कंठ लाइ कैं लई।
कहिये कहाँरी, कबहुँ न सुखकारी यह,
मिले हूँ दुखारी कछु नेह गति है नई।

प्रेमी युगल की यह दशा देखकर सब सहचरियाँ दौड़ कर आती हैं और 'कोटि' उपायों द्वारा उनके इस भ्रम के निवारण का उपाय करती हैं, परन्तु उनके जंत्र, मंत्र, तंत्र सब विफल हो जाते हैं। उन दोनों की यह विरह-बाधा तब दूर होती है, जब सखियाँ कृष्ण के कान में—'राधा-राधा' और राधा के कान में 'कृष्ण-कृष्ण' कहती हैं।

यह अत्यन्त सूक्ष्म विरह की अवस्था है, जिसमें संयोग में ही वियोग का भाव रहता है, और जिसे प्रेम-वैचित्र्य कहते हैं—

प्रियस्य सन्निकर्षे ऽपि प्रेमोत्कर्ष स्वभावतः
या विश्लेषभियार्तिस्तत् प्रेम वैचित्र्य मुच्यते।

अर्थात्

बिछुरन की आस मिलन की परे संधि जब आइ।
तो मन में संभ्रम भयेउ, प्रेम विचित्र सुभाइ।

इसी प्रकार मान लीला में राधा को कृष्ण के ज्योतिमय 'सप्त मुकुर-प्रकाश' शरीर में अपना प्रतिबिंब देखकर उनके साथ अन्य स्त्री के होने का भ्रम हो जाता है, फलस्वरूप वे कठिन मान करती हैं:—

निरखत निज प्रतिबिंब तन, मन संभ्रम भयो आनि
उठन उठी कछु मान की और त्रिया संग जानि।
चपल चली तेंहि ठौर तें, कीनो कठिन सुभाय
बैठी जाय रिसाय कै गर्व सिंहासन छाय।

कृष्ण अनुनय-विनय करते हैं, विशाखा और ललिता आदि अन्तरंगिणी सखियाँ उन्हें सब प्रकार समझाती हैं, पर उनका मान भंग होना तो दूर, अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है। जब सब प्रकार के प्रयत्न विफल हो जाते हैं, तब कहीं अन्त में मान का कारण कृष्ण की समझ में आता है। अब वे एक झीना-सा पट ओढ़कर जिससे उनके शरीर की सहज दीप्ति छिप जाती है, राधा के चरण स्पर्श करते हैं। कृष्ण के शरीर में अपना प्रतिबिंब न देखकर वे लज्जित होकर मान छोड़ देती हैं—'पट में न प्रतिबिंब देख्यो निज आंगनि कौं कछुक लजाई रही नीचे चख ढरिके'। ऐसी ही अन्य भी अनेक लीलायें हैं। ऐसी सूक्ष्मतम—मनः स्थितियों और अनुभूतियों को प्रायः तीन घंटे तक अभिनीत होनेवाले स्वतंत्र नाटक का रूप दे देना रास लीला की अपनी कला है, नाट्याभिनय की ऐसी विशिष्ट परम्परा अन्यत्र नहीं मिलती ; परन्तु उस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वैष्णव भक्तों और सन्तों की दृष्टि से ही इन निकुंज लीलाओं का तत्त्व समझा जा सकता है और उनका रस प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा-इनमें रस-भंग की ही अधिक सम्भावना है। वैष्णव भक्त और आचार्य रास लीला को रस-स्वरूप परात्पर ब्रह्म से जीव का मिलन कराने वाली साधना मानते हैं। उनके अनुसार लीला शब्द में 'ली' का अर्थ है मिलन

और 'ला' का अर्थ है प्राप्त करना[1]। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि रस-स्वरूप से जो जीव का मिलन प्राप्त करावे उसी का नाम है रास लीला। वस्तुतः लीला उस आध्यात्मिक गति का प्रतीक है, जिसके द्वारा भक्त अपने को भगवच्चरणों में समर्पित करता है। रास-नृत्य के सव्य-भ्रमण और अपसव्य-भ्रमण नाम के दो भेद कहे गए हैं। संभवतः वे दोनों स्वकीय एवं परकीय भाव की आराधना के प्रतीक हैं। राधा ही भाव की प्रतीक हैं—राधनोति इति राधा। श्रीकृष्ण समस्त आराधना के आकर्षण के केन्द्र हैं—'कर्मतीति इति कृष्णः।' इस प्रकार प्रकट है कि ब्रज का रास लीलानुकरण एक परमोच्च आध्यात्मिक साधना के रूप में प्रवर्तित हुआ।

उपर्युक्त सभी प्रकार की लीलाओं का एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार हैं। निम्नलिखित सूत्रों में संक्षेप में इसका निरूपण किया गया है, ये सूत्र शांडिल्य-प्रणीत[2] कहे जाते हैं........................

अथातो रसो ब्रह्म।१। सैवानन्दस्वरूपो कृष्णः।२। तस्यानुकरणान्तरा-भक्तिः।३। सा नवधा।४। तेषामन्योन्याश्रयत्वम्।५। तस्मात्‌रासोपद्यते।६। सोऽपि क्रियाभेदेनद्विधा।७। गोलोक स्थानमेव।८। ललितादेव्यो पोषणीयत्वेन लभ्यते।९। प्रेम देवता च।१०। महत्संगात् भविष्यति।११। परंपरैव ग्राह्यम्।१२। निष्कामेन कर्त्तव्यम्।१३। प्रयासं विनैव फलसिद्धः।१४। नियमेन कर्त्तव्यम्।१५।

आर्थात् रस ही ब्रह्म है।१। वही आनन्द स्वरूप कृष्ण है।२। उसकी भक्ति अनुकरणात्मिकता होती है।३। वह नौ प्रकार की होती है।४। उन सबका अन्योन्याश्रय सम्बन्व है।५। उससे रास उत्पन्न होता है।६। वह भी क्रिया-भेद से दो प्रकार का होता है।७। गोलोक ही उसका स्थान है।८। वह ललिता देवी के पोष्यत्व द्वारा प्राप्त होता है।९। इसका देवता प्रेम है।१०। वह महत् संग से होगा।११। परंपरा से वह ग्रहण किया जा सकता है।१२। निष्काम भाव से ही करना चाहिये।१३। बिना प्रयास के ही फलसिद्धि हो जाती है।१४। नियम पूर्वक करना चाहिये।१५।

ऊपर के अवतरण से स्पष्ट है कि ब्रह्म रस स्वरूप हैं—'रसो वै सः।' आनन्द स्वरूप कृष्ण ही वह ब्रह्म हैं—'कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्।' उन्हीं कृष्ण की अनुकरणात्मिकता भक्ति से रास की उत्पत्ति हुई है जिसका स्थान गोलोक

१—लियं लाति इति लीला। ली-मिलन, ला-प्राप्त करना।

२—दे० वि०ला० कृत रास सर्वस्व में रासोपदेश निरूपण

है। इस चिन्तन का परिपुष्ट रूप हमें वैष्णव-दर्शन में मिलता है। उसके अनुसार रस-स्वरूप परमात्मा ही आस्वाद्य-आस्वादक का रूप ग्रहण करके राधा और कृष्ण के रूप में प्रकट होता है–'एकं ज्योतिरभूतद्वैधा राधामाधव रूपकम्।'[१] राधाकृष्ण की आह्लादिनो शक्ति है—

एक स्वरूप सदा द्वै नाम,
आनंद की आह्लादिनि स्यामा, आह्लादिनि के आनंद स्याम।

वैष्णव ब्रह्म की तीन शक्तियाँ मानते हैं[२] (१) अंतरंग, (२) बहिरंग और (३) तटस्थ। बहिरंग माया शक्ति है, तटस्थ जीव शक्ति है, और अंतरंगशक्ति वह है जो ब्रह्म के स्वरूप की अक्षुण्ण बनाये रखती है। इस स्वरूपा शक्ति के भी तीन भेद हैं(१) सत् की संधिनी, (२) चित् की संवित्, और (३) आनंद की आह्लादिनी। अह्लादिनी शक्ति का ही मूर्त्तरूप श्री राधिका हैं:—

प्रिया शक्ति आह्लादिनी, प्रिय आह्लाद स्वरूप।
तनु वृन्दावन जगमगे, इच्छा सखी अनूप ॥[३]

यह आह्लादिनी शक्ति ब्रह्म-कृष्ण के अन्दर रहती हुई भी उनसे भिन्न रह सकती हैं। गोपियाँ उनकी काय-व्यूह मानी गई हैं। राधा की तीन मूर्तियाँ हैं—स्वयं मूर्ति, परिणाम मूर्ति और विवर्त्त। उनकी स्वयं मूर्ति ही गोलोक में में कृष्ण के साथ निज-निकुंज में नित्य-संयुक्त रूप में रहती है। उनकी परिणाम मूर्ति कृष्णावतार काल में ब्रज में अवतरित होती है। इसीलिए वैष्णव ब्रज में ही रस की स्थिति मानते हैं, क्योंकि वह राधा की परिणाममूर्ति है। ब्रजेतर रस की स्थिति ही संभव नहीं, क्योंकि सृष्टि में रस हो नहीं सकता। इसीलिए वास्तविक रस उस ब्रज में नित्य गोलोक धाम में ही होता है। रस के समूह को ही रास कहा गया है।[४] अथवा जिससे रस उत्पन्न होता है, उसे रास कहते हैं।[५] इसलिए रास की नित्य स्थिति भी ब्रज में ही मानी गई है।

इसी से रास के तीन भेद हो जाते हैं—पहला अलौकिक अथवा नित्य रास, दूसरा नैमित्तिक रास और तीसरा लौकिक रास जिसे लीलानुकरण कहते हैं। अलौकिक अथवा नित्य रास को योगपीठ की लीला भी कहते हैं।

१—कृष्णोपनिषत्।१२।

२—दे० जीव गोस्वानी कृत 'भागवत्-संदर्भ'।

३—महावाणी हरिव्यास प्रिया जी।

४—रसानां समूहो रासः।

५—रसोत्पद्यते यस्मात् स रसः।

यह भगवान की अप्रकट लीला है[1] यह रास गोलोक के हृदय में स्थित नित्य वृन्दावन-धाम में होता है और परम रहस्य वस्तु कहा गया है। इस लीला में सुर, असुर, जीव किसी का भी प्रवेश नहीं, केवल नित्य सिद्ध परिकर ही उसके अधिकारी हैं। इसकी भी तीन अवस्थायें हैं। पहली अवस्था वह है जहाँ सविशेष सगुण ब्रह्म निज निकुंज में नित्य संयुक्त रूप में रहते हैं, जहाँ मान, विरह और भ्रम कुछ नहीं होता, निर्विकार शान्त शृंगार की अविरल अबाध धारा प्रवाहित रहती है। दूसरी अवस्था वह है, जिसमें प्रकाश-रूप से युगल-मूर्ति अपनी सखियों—नित्य सिद्ध परिकरों—को सुख देने के लिये निज निकुंज से बाहर निकलते हैं और उनके साथ रास करते हैं। यहाँ विरह नहीं होता पर लान और भ्रम होता है। उल्लिखित भौंरा-लीला तथा मान-लीला यहीं होती है। तीसरी अवस्था वह है जिसमें नन्दगांव और बरसाने की लीलायें होती हैं। नन्द-भवन की लीला में जन्म रहित वात्सल्य लीला मानी जाती है। यहाँ यह अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है कि ये सब लीलायें नित्य हैं, और इनका श्रीमद्भागवत् आदि में वर्णित अवतार लीलाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। अवतार लीलायें नैमित्तिक रास के अन्तर्गत हैं, जो अवतार काल में होता है। इन्हीं का वर्णन पुराणादि ग्रन्थों में है और यह भगवान् की प्रकट लीला के अन्तर्गत हैं। आजकल जो रास होता है, वह लीलानुकरण मात्र है। नित्य लीला रास द्वंद स्वरूप है। नैमित्तिक इसका प्रवाह है, और लीलानुकरण प्रतिमा स्वरूप है, जो साधना-आराधना और उपासना की वस्तु है और जिसके उद्देश्य तथा आदर्श का निरूपण किया जा चुका है। ऊपर यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अनुकरण नित्य और नैमित्तिक दोनों ही प्रकार की लीलाओं का होता है। हितहरिवंश, हरिदास तथा हरिव्यास—निम्बार्क मतानुयायी-आदि महात्मा नित्य-निकुंज के नित्य रास के उपासक थे, उनके सम्प्रदायों में आज भी अप्रकट नित्य निकुन्ज-रस की उपासना चली आ रही है, गौड़ीय सम्प्रदाय में प्रकट ब्रज रस की उपासना होती है।

१—कालिन्दी जँह नदी नील निर्मल जल भ्राजै।
परम तत्त्व वेदान्त वेद्य इव रूप विराजै॥
ता मंडप महं योगपीठ पंकज रूचि लागी।
ताके मन में उदित होत जो कोऊ बड़भागी॥
श्री वृन्दावन योगपीठ गोविन्द निवासा।
देव गदाधर भट्ट की वाणी पृ० १। ६१।

यदि हम राधा-कृष्ण के पारस्परिक आस्वाद्य-आस्वादक सम्बन्ध पर दृष्टि डालें, जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है तो यह सम्प्रदाय-भेद अधिक स्पष्ट हो जाता है। निम्बार्की और राधाबल्लभी मानते हैं कि आस्वाद्य श्री राधा और आस्वादक कृष्ण हैं, इसीलिये कृष्ण अनेक छद्म धारण करते तथा राधा के लिये अभिसार करते हैं। चाचा हित वृन्दावन दास लिखित 'रास छद्म विनोद' और 'बयालीस लीला' आदि ग्रन्थों का उल्लेख हो चुका है जिनमें कृष्ण का राधा के लिये विविध छद्म धारण करने का वर्णन है। इन छद्म लीलाओं के अन्तर्गत 'नौकालीला' जैसी कुछ रहस्यमयी लीलायें भी हैं, जिनका दार्शनिक आधार जितना पुष्ट और स्पष्ट है, उनका अभिनय भी उतना ही हृदयहारी और विचित्र होता है। इसके विपरीत बल्लभ और गौड़ीय सम्प्रदायों के अनुसार आस्वाद्य कृष्ण और आस्वादक राधा रानी हैं। इसलिये श्रीराधा श्रीकृष्ण से मिलने के लिये अनेक छद्म वेष धारण करतीं तथा अभिसार करती हैं, विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा अभिनीत रास लीलाओं में अनेक रूपों में यह भेद लक्षित होता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में निकुंज लीलायें, विशेषत: छद्म अधिक प्रचलित हैं और बल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य तथा सख्य-भाव की लीलाओं पर अधिक अनुराग है। निम्बार्क सम्प्रदाय के रास में कृष्ण का मुकुट बायीं ओर झुका रहता है जो राधा की प्रधानता का सूचक है। बल्लभ सम्प्रदाय के रास में कृष्ण के मुकुट की दाहिनी लटक रहती है जिससे कृष्ण की प्रधानता प्रकट होती है।

कृष्ण और राधा के सम्बन्ध में विभिन्न साम्प्रदायों की निष्ठा पर विचार करने से एक और तथ्य प्रकाश में आता है। वह यह कि अधिकारी रुचि के भेद से कृष्ण में नायक के सब भावों का आरोप किया गया है। जब उनका राधा पर एकान्त अनुराग है, तब वह दक्षिण नायक हैं। राधा के साथ ही साथ जब अन्य गोपियों पर उनका समान अनुराग होता है तब वह अनुकूल नायक हैं। उनमें शठ और धृष्ठ नायक के भी सब गुण हैं जिनके बहु संख्यक उदाहरण कृष्ण-साहित्य से दिये जा सकते हैं। उसी प्रकार राधा में भी नायिका के स्वकीय और परकीय दोनों भावों का आरोप किया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुसार कृष्ण का विवाह राधा से होता है और उनमें स्वकीयत्व की सभी दशाओं और अवस्थाओं की स्थापना की गई है। राधा बल्लभ सम्प्रदाय में भी ऐसा माना गया है। गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा एक अन्य गोप की पत्नी बतायी गई हैं जो कृष्ण के प्रेम में परम विरक्त, गृह-त्यागी संन्यासी की तरह कुल की लाज और लोक की मर्यादा छोड़ कर सर्वस्व समर्पण कर देती हैं। इस निष्ठा-भेद से अपार भाव-भेद तथा रस-भेद की सृष्टि हुई है

और लीलानुकरण का कला-पक्ष अधिक प्रौढ़ बना है। एक ओर तो रास लीला के छोटे-छोटे कथानकों में व्यापकता और विविधता का सन्निवेश हुआ है और दूसरी ओर एक ही शृंगार-रस के परिमित क्षेत्र में वैचित्र्य के समावेश का अनन्त अवकाश निकल सका है।

यहाँ यह न भूल चाहिये कि रास काम-गन्ध-शून्य प्रेम-लीला है जिसके मूल में उपनिषदों का सर्वात्मवाद है। अतः राधा का स्वकीयत्व और परकीयत्व नैतिकता की पार्थिव दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राधा ब्रह्म की शक्ति हैं जिसके साथ ब्रह्म पिण्डाण्ड और ब्रह्मांड में समान रूप से लीला विलास करता है। इस लीला विलास की अनुभूति सन्त जन अपने भीतर करते हैं जिसका सुन्दर चित्रण देव के इस छन्द में मिलता है।

हौं ही ब्रज वृन्दावन मोही मैं बसत सदा,
जमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की।
वंशीवट तट नट नागर नटत मोमैं,
रास के विलास की, मधुर ध्वनि बीन की।
चहूँ ओर सुन्दर सघन वन देखियत,
कुंजन में सुनियत गुंजन अलीन की।
भरि रही भनक बनक तान तालन की,
तनक तनक तामें खनक चुरीन की[1]।"

अतः स्वकीयत्व और परकीयत्व दोनों साधना और अनुभूति सापेक्ष भाव हैं। स्वकीयत्व आत्मा और परमात्मा की सहज अभिन्नता की उसकी उस तीव्र अनुभूति का प्रतीक है जिसकी अभिव्यक्ति कबीर आदि ने अपने को 'राम की बहुरिया'[2] कहकर की है, और परकीयत्व आध्यात्मिक साधना के

१—तु० क० श्री पूर्णेन्दु नारायण सिंह की उक्तिभागवत पुराण, १९०१, पृ० ३१४-३१५—

"..........The heart of man is the seat of this Lila, which can be reproduced at all times in the heart of every real Bhakta......... The Lila is constantly performed in Goloka, and it is reproduced over parts of Brahmanda, according to the will of Krishna."

२—गाउ गाउ री दुलहनी मंगल चारा।
मेरे ग्रिह आए राजा राम भतारा।
नाभि कमल महि बेदी रचिले ब्रह्मा गिआन उचारा।
राम राइ सो दूलहु पाइओ अस बड़ भाग हमारा।

मार्ग पर अभिसार की उस स्थिति का सूचक हैं, जब एक महत्तर दैवी जीवन की सीमा में प्रवेश करते ही पार्थिवता के नैतिक-अनैतिक सभी बन्धन स्वत: छूट-टूट जाते हैं।[१]

लीलानुकरण में भी उसकी आध्यात्मिकता अक्षुण्ण रखने के लिये अभिनय सम्बन्धी कठोर विषय बनाये गये हैं। ब्रज के ब्राह्मण बालक ही जिनके यज्ञोपवीतादि संस्कार हो गये हैं, राधा कृष्ण और गोपियों का स्वरूप धारण कर सकते हैं। रास बिहारी को आवेशावतार माना जाता है, और प्रत्येक प्रेक्षक से यह आशा की जाती है कि वह लीलानुकरण करने वाले स्वरूपों में भगवद् बुद्धि रखे। स्वरूपों के सामने कोई उच्चासन पर अथवा अविनीत मुद्रा में नहीं बैठ सकता। लीला के समय रास मंडल के बीच से निकलना तक अनुचित माना है। सर्व साधारण के सामने अन्तरंग रहस्यमयी निकुंज लीला का अभिनय वर्जित है

१—तु० क० आनन्द कुमार स्वामी कृत 'राजपूत पेंटिंग्स्' अध्याय १:—

'This Krishna is constantly represented as betraying the milk-maids of Braja—the souls of men—from their lawful allegiance. .... Christ also condemned, the illusion of family.'

वही पृ० २७—२८:—

"However deeply men may believe......in morality, there must ultimately come a day for each when it will be realized that these are but a game and its rules, which the greater life transcends: it is then that reputation becomes of no significance, the soul is made parakiya, and goes forth on abhishara into the darkness of the unconditioned, to yield herself to Him who waits at the place of trysting. And though the soul—Radha, Sophia, Besse, or by whatever name we speak of her—may return to the world and its dharma, she will attain at last to that bhava—sammilan or inner union which is the sva-rupa or 'own form of Krishna, and knows no severance. The momentary ecstasies and illuminations which this life affords us are intimations of that perpetual reality which we have temporarily forgotten. This is the significance of the Vaishnava symbolism. ....In other words, the names in the Krishna Lila are like 'Jerusalem', and other names employed by Blake and the Western mysties ot indicate states,"

और रात्रि में बारह बजे के पश्चात् लीला होना मर्यादा विरुद्ध है। सब तो नहीं पर कुछ रास मंडलियाँ आज तक इन नियमों का निष्ठा से पालन करती चली आई हैं।

(३)

ऊपर रासलीला के जिस स्वरूप का विवेचन किया गया है उसका उद्भव और विकास व्रज में ही माना जाता है, परन्तु रास लीला किसी न किसी रूप में देश के प्रायः सभी भागों में ही पाई जाती है। आसाम के मनीपुर प्रान्त में रास नृत्य का बहुत प्रचार है जिसमें राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों का अभिनय होता है और जो सर्वथा काम-गन्ध शून्य होते हैं और जिनकी मूल प्रेरणा धार्मिक होती है। मनीपुर के प्रत्येक ग्राम में राधा-कृष्ण, कृष्ण-बलराम अथवा कृष्ण चैतन्य का एक मंदिर रहता है, जिसके सभा-मंडप में ये लीलायें होती हैं। इन मंदिरों में रास लीला नामक एक नृत्य महोत्सव भी होता है जो निरन्तर बारह दिनों तक चलता रहता है और जिसमें प्रसिद्ध वैष्णव कवियों के पदों का गान भी साथ-साथ चलता रहता है। कभी-कभी नर्तकों के साथ गायकों तथा वादकों का समूह भी रहता हैं। परन्तु प्रायः नर्तक ही स्वयं गायन करते है। नर्तक, गायक, वादक सबकी वेशभूषा अत्यन्त सुन्दर और वर्ण-वैचित्र्य के कारण आकर्षक होती है। कृष्ण एक पीली रेशमी धोती पहनते हैं जो रेशमी कटिबन्ध से कसी रहती है। उनके शरीर का ऊपरी भाग खुला रहता है, यद्यपि उन्हें हार, केयूर, वलय और अंगद आदि से खूब सजा दिया जाता है। मस्तक पर जड़ाऊ किरीट रहता है जिसपर मयूरपंख शोभा पाते हैं। इस मनीपुर रास की विशेषता यह है कि इसे स्त्रियां भी करतीं हैं जैसा व्रज में नहीं होता। गुजरात के काठियावाड़ में भी रास लीला प्रचलित है, जो गरबा या गर्भा नृत्य की शैली पर होती है, इसमें भी स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते हैं। बंगाल की यात्राओं में भी कृष्णलीला का ही प्राधान्य है। उड़ीसा के चाऊ नृत्य के अन्तर्गत भी राधा-कृष्ण के ऐसे प्रणय-संलाप प्राधान होते हैं जिनमें उनके दिव्य शाश्वत प्रेम की अभिव्यक्ति रहती है। रास लीला की इस व्यापकता को देखने से पता चलता कि यह प्रान्त विशेष की वस्तु नहीं अपितु इसका प्रचार सारे देश में रहा है। परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि आज रास लीला का जो आध्यात्मिक आदर्श और साहित्यिक उत्कर्ष ओर कलात्मक वैविध्य व्रज भूमि में पाया जाता है, वह अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ता। इस बात से यह अनुमान किया जा सकता है कि रास लीला के वर्तमान स्वरूप की उत्पत्ति और विकास वृन्दाबन के आसपास कहीं व्रज भूमि में ही हुआ होगा। रास लीला की उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुई, इसके सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री घमंडदेव जी

को रास लीला का प्रवर्तक माना जाता है घमंडदेव जी निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री हरिव्यासदेवाचार्य के बारह प्रधान शिष्यों में गिने जाते हैं, जिनका एक द्वारा-स्थान-पंजाब के किसी स्थान में बतलाया जाता है। निम्बार्की हरिव्यासदेव जी का प्रादुर्भाकाल[1] सम्वत् १३२० के लगभग मानते हैं और उनके अनुसार श्री घमंडदेव जी का प्रादुर्भाव सम्बत् १४५९ के लगभग पंजाब प्रान्तान्तर्गत रोहतक जिले के 'दोवद्धन' नामक ग्राम के ब्राह्मण कुल में हुआ[2]। इनका सम्बत् १५६५ तक जीवित रहना बतलाया जाता है, कहा जाता है कि उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर श्री राधा और कृष्ण ने उन्हें अपनी रास लीला के दर्शन कराये, तथा उन्हें एक तेजोमय मणिजटित मुकुट देकर आज्ञा दी कि तुम उत्तम-उत्तम ब्राह्मण बालकों को शिक्षा दे रास-दर्शन का प्रत्यक्ष अनुभव करो। अतः वे स्वामी हरिदास जी तथा कतिपय अन्य महात्माओं को संग लेकर मथुरा गये और वहाँ से दस माथुर ब्राह्मण बालकों को लेकर रासलीला की। वे बालक लीला के अन्त में सदा के लिये अर्न्तध्यान हो गये। वहाँ से फिर वह बरसाने के निकट 'करहला' नामक ग्राम में गये और वहाँ उदयकरण ओर खेमकरण नामक दो ब्राह्मण बन्धुओं को शिष्य बनाकर उनके द्वारा रासानुकरण का प्राचार किया।

रासलीला के प्राकट्य के सम्बन्ध में इससे कुछ मिलती जुलती अनुश्रुति बल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित है। इस अनुश्रुति का पूरा विवरण करहला ग्राम के प्रसिद्ध रासधारी श्री बिहारी लाल के पुत्र रास तत्त्वज्ञ श्री राधाकृष्ण ने अपने 'रास सर्वस्व' ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। रासधारी परंपरा का निरूपण करते हुये उन्होंने लिखा है।

नगर ग्वालियर निकट इक ग्राम परेवन नाम।
घमंड देव को मुकुट कौ दरस भयौ तिहि ठाम ।।
करहु रास आज्ञा भई मर्म न काहू जान।
बिश्नु स्वामि संमत करन मथुरा पहुँचे आनि ।।
तह संमत कर पुन मुकुट सबै दरस शुभ दीन।
पुनि निर्मायो रास जस प्रथमहि वर्णन कीन ।।
पुनि घमंड स्वामी गए ग्राम करहला माहि।
उदय करण अरु षेमकर द्विजभ्राता दुइ ताहि ।।

---

१. दे० 'निम्बार्क माधुरी', पृ० २३

२. दे० श्री निम्बार्क महासभा, वृन्दावन का मुखपत्र 'श्री सुदर्शन', कार्तिक, सं० १९९२, पृ० १९ अस्तु, बिहारीदास लिखित 'घमंडदेव जी की जीवनी।'

तिनहिं बुलाकर अस कही करहु रास महि देव।
एहि बिधि बंस परम्परा सदा रहे तुम सेव ।।[१]

इस मत के अनुसार भी एक घमंड देव अथवा स्वामी रासवारी परंपरा के प्रथम प्रवर्तक माने जाने हैं। उनका जन्म स्थान पंजाब का दोवद्धन गाँव नहीं वरन् ग्वालियर का निकटवर्ती परेवा नामक ग्राम कहा गया है। वह सनाढ्य ब्राह्मण थे, पर निम्बार्क सम्प्रदाय में जिन घमंड देव की प्रसिद्धि है वे गौड़ थे। जिन दिनों घमंड देव को मुकुटों का दर्शन हुआ और रास करने की आज्ञा मिली उन्हीं दिनों वृन्दावन के सुप्रसिद्ध सन्त श्री स्वामी हरिदास को भी रास लीला के उद्धार की प्रेरणा मिली।

रास बिहारी लाल दृगन ते दूरि भयो जब।
तिमिर ग्रसित भव भाव नहिं जानें कोऊ तब।।
श्री स्वामी हरिदास खास ललिता वपु तिनको।
प्रकट करत भई रास महल ते आज्ञा जिनको ।।[२]

श्री स्वामी हरिदास सिद्ध सन्त और प्रसिद्ध संगीत कला कोविद थे। गायनाचार्य तानसेन तक इनका गुरुवत् सम्मान करते थे। रास लीला के उद्धार की दैवी प्रेरणा से अनुप्राणित हो वे महाप्रभु बल्लभाचार्य के पास गए और उनसे रास रस को जग में प्रकट करने का उपाय करने की प्रार्थना की[३]। आचार्य श्री महाप्रभु ने प्राणायाम चढ़ाकर ध्यान किया। उसी समय कुछ मुकुट उतरते हुए दिखाई पड़े। उस समय महाप्रभु जी की सभा में बावन राजा उपस्थित थे। उन्होंने मुकुटों को उतरते हुये देखकर आश्चर्य चकित होकर पूँछा यह क्यों उतर रहे हैं। इस पर महाप्रभु बल्लभाचार्य ने उत्तर दिया।[४]

रास क्रीडा करो कही यह वात जतावन।
नहिं यामे कछु दोष यही है हमारी कामन ।।
तामपत्र में मुहर करौ सबरे तुमहूँ किन।

× × ×

तब स्वामी हरिदास कही अब देर करत कित।
छिन पल हमकौ काटि कल्प सम बीतत है इत ।।

१— देखो 'रास-सर्वस्व'
२— ,, वही
३— ,, वही
४— ,, वही

माथुर भक्ति परायण तिनकौ निकट बुलाये ।
परम मतो हम देउ अष्ट बालक मनभाये ।।
ताही छिन ते गये धाय बालक लै आये ।
को कहि तिनकी महिमा जो श्री प्रभुन बुलाये ।।

इस प्रकार रास में अभिनय करने के हेतु माथुर ब्राह्मणों के बालकों के आ जाने पर स्वयं महा प्रभु बल्लभाचार्य ने कृष्ण स्वरूप का शृंगार किया तथा स्वामी हरिदास जीने राधा स्वरूप का—

श्री स्वामी हरिदास कियो शृंगार प्रिया को ।
श्री अचरज देव कियो मोहन रसिया को ।।
पुनि वृदावन आय रास मंडल निर्मान्यो ।
वेद पुराण शास्त्र तंत्रन जा रीति बखान्यो ।।
ता मंधि युगुल किशोर थापि पुनि सखि पधराई ।
आपुन कियो समाज कृष्ण लीला तब गाई ।।
महा रास तब कियो लाल भये अन्तर्धाना ।
बन बन ढूंढत फिरैं सखी करि करि गुण गाना ।।

इस प्रकार बहुत अन्वेषण करने पर भी कृष्ण स्वरूप और राधा स्वरूप का कुछ भी पता न लगाया जा सका । तब तो उन बालकों के अभिभावक माथुर ब्राह्मणों ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने पुत्रो के प्राप्त करने का आग्रह किया । जब वे मरने-मारने को उद्यत हो गये तो आचार्य महा प्रभु बल्लभ ने उनके पुत्रों को कृष्ण के विग्रह के निकट खेलते हुये दिखा दिया । तब तो वे उद्यत माथुर ब्राह्मण इस चमत्कार से अभिभूत होकर अपने-अपने घरों को भाग गये और आचार्य महाप्रभु ने घमंड देव को आज्ञा दी कि तुम ब्रज में अपनी शिष्य परम्परा स्थापित कर रास लील का प्रचार करो ।—

अपने अपने घरन माथुर कियो पलायन ।
घमंडदेव सों कह्यो सुनों गुरु भक्ति परायण ।।
तुम ब्रज के वासीन माहि कीजै शिष शाखा ।
तिनसों यह मारग जु चलाओ सुनि मम भाषा ।।
ऐसी आज्ञा दई गये अपने अपने थल ।
घमंडदेव पुनि गये ग्राम ललिता जंह करहल ।
उदय करण अरु खेम करण द्वै भ्राता द्विजवर ।
तिनहीं सों यह रास प्रथा चली सुनौ रसिकवर ।।
उदय करण कौ पुत्र नाम बिक्रम हो जाकौ ।
अति प्रताप बल पौरुष बरनौ जाय न ताकौ ।।

नौरंग साह के समय रास तिनहीं ने कीनौ।
परचौ दीनौ ताहि मारि करवर जस लीनौ॥

रास सर्वस्व के रचयिता श्री राधाकृष्ण के अनुसार इस प्रकार रासानुकरण की परम्परा चली। जब तक यह परम्परा उच्चकोटि के सन्तों और साधनाशील भक्त रासधारियों के आश्रित रही तब तक उसका आध्यात्मिक स्वरूप अक्षुण्ण रहा, पर कुछ समय उपरान्त जब यह परम्परा शुद्ध मनोरंजन चाहने वाले लोगों से प्रभावित हुई तो उसमें अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ गई :—

तिनते पीछे सुनौ रसिक रस सबै बिनसिगो।
दंभ, काम, मद, लोभ रास धारिन उर बसिगो॥
ह्वै गये सब निर्द्वन्द रासधारी जबही ते।
भ्रष्ट करी सब रीति लोभ बस ह्वै तबही ते॥
जाति अजाति कुजातिन के बालक लै लै सब।
कृष्ण वेष धरि दंभ बाम मारग थाप्यौ तब॥
महा नीच मति दुष्ट कामबस असुर समाना।
गजल रेखता आदि गाय पामर मनमाना॥

× × ×

कँह लगि बरनी जाय दुष्ट अस रीति चलाई।
लोक लाज कुल धर्म शृंखला सबै नशाई॥
इहि विधि जग में लुप्त भौ त्रिशत वर्ष रस मंथ।
विप्र बिहारी लाल पुनि प्रकट कियो यह पंथ॥

श्री राधाकृष्ण ने इस प्रकार रासानुकरण परम्परा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुये बताया है कि उनके पिता बिहारीलाल रासधारी ने उपर्युक्त विकृतियों से उसका उद्धार किया। इससे सिद्ध है कि रास पहले केवल भगवद्-गुणगान के लिए होता था, उसका कोई आर्थिक लक्ष्य न था। आर्थिक लक्ष्य के सामने आ जाने के कारण ही उपर्युक्त विकृतियाँ उत्पन्न हुईं।

इस प्रकार रास सर्वस्व के रचयिता ने रासानुकरण के प्राक्ट्य का श्रेय जहाँ स्वामी हरिदास और घमंडदेव को प्रदान किया है वहाँ नाना लीलानुकरण प्राक्ट्य का श्रेय श्री नारायण भट्ट को दिया है :—

दक्षिण व पश्चिम कोण में मन्तराज तै ग्राम।
मदुरा तेरा कोस पर अति प्रसिद्ध सो ठाम॥
जहाँ व्यास गुरु सरिस वर प्रकटे तहँ रस धाम।
नारद जी के अंश ते भट्ट नरायण नाम॥

दीक्षित भृगु वंशी सुद्विज राध देस सुद ताँह।
संवत सोरह सै असी आठ अधिक के माँह ।।

जब इनकी अवस्था बारह बरस की हो गई तो उन्हें ब्रज में जाकर तीर्थ स्थानों के उद्धार और भगवत् लीला के विस्तार की प्रेरिणा प्राप्त हुई।

मज्जत श्रवण सुनी अस वानी, ब्रज में जाइ बसो तुम ज्ञानी।
राधा कुन्ड वास निज मेरो, सोई तुमकह सुखद बसेरो ।।
तीरथ वर ब्रज में है जैते काल, सुभाउ लुप्त भये तेते।
करहु जाइ तिनकौ उधद्‌ारा पुनि, मम लीला को बिस्तारा।।

इस प्रकार देवी-आदेश प्राप्त कर उहोंने ब्रज को प्रस्थान किया।

पुनि तिहि ब्रज को कियो पयाना, देखत मग पुर बन सरि नाना ।।
वर्ष तीन में ब्रज में आये, राधा कुन्ड रहै पुनि छाये ।।
सात वर्ष तँह विचरेउ सांई, सत्तह सै दस संबत मांई ।।
बरसानें मँहि ऊँचे ग्रामा, वास कियो भक्तन सुख धामा ।।

× × ×

तब सत्तह से चौदह साली, अनुसासन का दीन्ही बन माली।
करहु राम रस रीति उजागर, जहि कारण प्रगटेउ गुणआगर।।
तब सनाढ्य द्वै विप्र बोलाई, राम राय कल्याणहु राई ।।
बासी रहे करहला केरे, किये शिष्य उपदेश घनेरे।।
पुनि एक बल्लव नृतक वर, बादशाह को खास।
ज्ञान भये तजि चाकरी, करत रहयो ब्रज बास ।।
ताते बिबिध नृत्य सिखवाई रास बिलास प्रकटता गाई।
कछु दिन पाछे भयउ विचारू, प्रगटेउ भाव तदपि संसारू ।।
राम विलास स्वामिनी प्यारी, सखी भाव विन नहि अधिकारी।
प्राकृत दम्पति लीला माहीं, परिचारक कोउ प्रबिशत नाहीं ।।
रहै पास तेहि अवसर दासी, जे स्वामिनी की कृपा निवासी।
प्रभु कं भक्त अनेक विधाना उज्वल सख्य दास्य रस ज्ञाना।
तिन कँह सुख उपजे जेहि भांती, प्रभु पद में रह मन दिन राती ।।
जेहि प्रकार हरि प्रेम दृढ़ निखित भक्त जन होइ।
निज निज रुचि हरि भाव कर सुख पावै सब कोइ।।
अस विचारि हरि को ललित लीलन को अनुकार।
रसिक नरायण भट्ट ने प्रथित कियो संसार ।।

उपर्युक्त विवरण से यह प्रकट होता है कि श्री नरायण भट्ट ने भी लीलानुकरण के प्रचार के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये करहला के ही दो

ब्राह्मणों को शिष्य बनाया। बल्लभ नामक बादशाह के एक अवकाश प्राप्त नर्तक से भी उनको अपने कार्य में सहायता मिली, परन्तु कुछ समय पश्चात् उनको यह अनुभव हुआ कि सांसारिक भावापन्न अनधिकारी व्यक्तियों के प्रवेश और सम्पर्क के कारण रास की आध्यात्मिकता लौकिकता से आक्रान्त होती जा रही है। उन्होंने सोचा जब मानवीय दाम्पत्य-लीला में पर-प्रवेश निषिद्ध है, तो भगवान् की परम दिव्य दाम्पत्य-लीला को सार्वजनिक बनाकर उसे मधुर रस के अनधिकारी व्यक्तियों के उपभोग्य बना देना समाज के लिये अनिष्टकर ही होगा। इसलिये उन्होंने रूचि और प्रकृति-भेद से विभिन्न प्रकार के भक्ति के अधिकारियों के लिये उज्वल सख्य और दास्य आदि रसों की भगवान् की ललित लीलाओं की अनुकृति का प्रचार और प्रसार किया।

राधाकृष्ण के इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि आज जिस रीति में रास लीला प्रचलित है वह उसका मूल स्वरूप नहीं है। स्वामी हरिदास ने महाप्रभु बल्लभाचार्य के सहयोग से केवल रासानुकरण का प्रचार किया था, जिसमें शरत् पूर्णिमा में यमुना तट पर गोपियों के साथ भगवान् कृष्ण द्वारा आयोजित रास लीला का ही एक निश्चित विधि से अभिनयात्मक अनुकरण किया जाता था। अन्य लीलाओं का समावेश उसमें नहीं होता था। महाप्रभु बल्लभाचार्य के आदेश से सम्भवतः इसी रासानुकरण का प्रचार घमंडदेव या घमंडस्वामी ने करहला के उदय करण और खेम करण को शिष्य बनाकर ब्रज में किया। जब श्री नारायण भट्ट ब्रज में आये, तब वहाँ इसी रूप में रासानुकरण का प्रचार था। परन्तु मधुर रसाश्रित इस विशुद्ध आध्यात्मिक लीला के अधिकारियों के प्रभाव के कारण इसमें लौकिकता का प्रवेश होते देखकर उन्होंने इसके साथ-साथ नाना लीलानुकरण का प्रचार किया।

बहुत प्रयत्न करने पर भी ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हुये, जिनसे उपर्युक्त दोनों मतों में से किसी एक को निर्णयात्मक स्वीकार किया जा सके। उपर्युक्त दोनों ही मत घमंडदेव नामक किन्हीं आचार्य को रास लीला का प्रवर्त्तक मानते हैं, और करहला-ग्राम निवासी उदय करण तथा खेम करण की सहायता से इस परंपरा का प्रवर्त्तक स्वीकार करते हैं। संभव है, निम्बार्क एवं बल्लभ दोनों ही संप्रदायों के घमंडदेव एक ही व्यक्ति हों और संप्रदाय-भेद से भिन्न रूपों में उनके संबंध की जनश्रुतियों का प्रचार हुआ हो। यह भी संभव है कि घमंडदेव द्वारा रास लीला के प्रवर्त्तन के संबंध की कोई पुरानी अनुश्रुति चली आरही हो, जिसको दोनों संप्रदाय वालों ने पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता और खींच तान के आवेश में अपने ही संप्रदाय को रास लीला के प्राकट्य का श्रेय देने के लिए अपनी सुविधानुसार तोड़-मरोड़ लिया हो। यह

भी संभावना है कि यह जनुश्रुति पहले इनमें से किसी एक ही संप्रदाय की संपत्ति अथवा उद्‌भावना रही हो और फिर बाद को दूसरे ने भी अपनी रुचि के अनुकूल इसका उपयोग किया हो। इन दोनों मतों की प्रतिद्वंद्विता बहुत पुरानी है, जिसका प्रमाण वह अभियोग[१] है जो दोनों संप्रदायों में इस बात को लेकर चला था कि बरसाने की बूढ़ी[२] लीलाओं में कृष्ण के मुकुट की लटक दाहिनी होनी चाहिए या बायें। यह दोनों ही मत स्वामी हरिदास जी के साक्ष्य और सहयोग से रास लीला का प्रवर्त्तन मानते हैं। स्वामी हरिदास सोलहवीं शती में हुए थे, इनके ही संप्रदाय में इनकी जन्मतिथि सं० १५३७ वि० के भाद्रपद शुल्क की अष्टमी मानी जाती है।

तीसरा मत श्री नारायणभट्ट जी को रास का आचार्य मानता है। ये श्री चैतन्य महाप्रभु के पार्षद श्री गदाधर पंडित के शिष्य थे। 'रास सर्वस्वकार' ने इनके विषय में जो कुछ लिखा है, उसकी पुष्टि गोस्वामी जानकी प्रसाद लिखित संस्कृत-ग्रंथ 'नारायणाचार्य चरितामृतं' से होती है। गोस्वामी जानकी प्रसाद का समय सं० १७२२ के आसपास माना जा सकता है। गोस्वामी जानकी प्रसाद के उक्त ग्रन्थ से विदित होता है कि श्रीनारायण भट्ट का जन्म दक्षिण भारत में गोदावरी नदी के तट पर मदुरा के निकट किसी गाँव में हुआ था। ये नारद जी के अवतार थे। बारह वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही इन्हें श्री राधाकृष्ण ने दर्शन दिए और आज्ञा दी कि शीघ्र वृन्दावन जा कर मेरी लीलाओं का प्रकाशन करो। तदनुसार वे ब्रज में आये, और वहाँ बरसाने के पास ऊँचग्राम में निवास किया, तदन्तर श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी से दीक्षा लेकर उन्होंने ब्रज के सब वासों और लीला स्थानों का उद्‌घाटन और उद्धार किया। उक्त ग्रन्थ के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि भगवान ने जिस स्थान पर जो लीला की थी, श्री नारायण भट्टजी ने उस स्थान पर उसी लीला के अनुकरण

१—सन् १९३४ में बरसाने की बूढ़ी लीला के अवसर पर वृंदावन के निंबार्की साधुओं से विवाद होने पर करहला के रास धारियों ने आग्रह किया कि हम निंबार्की शृंगार (बायें मुकुटआदि) न लेकर बल्लभी शृंगार (दाहिना मुकुट) करेंगे। इस पर बड़ा विवाद हुआ और दो वर्ष तक मुकद्दमा चलता रहा। इस विवाद के बीच खूब मारपीट हुई और फार्यारिंग तक की नौबत आई।

२—ब्रज में प्रचलित इस समय की सब से प्राचीन लीला परंपरा बरसाने की है, यह अपनी प्राचीनता के कारण बूढ़ी लीला कहलाती है। यह भाद्रपद की शुक्ल नौमी से पूर्णिमा तक होती है।

की परंपरा चलाने का उपक्रम किया, और सांझी-रचना आदि की परिपाटी का भी आवर्त्तन किया—

'अथ: नारायणाचार्थ: श्रीकृष्ण ज्ञाप्तणोदित:,
ब्राह्मणं सुंदरं बालं कृष्णवेशं निधाय च।
राधावेशं तथा चैकं गोपीवेषांस्तथापरान्,
रासलीलां स सर्वत्र कारयामास दीक्षित:।
रंगदेवी सदाविष्टा दीक्षित वर्त्तते यत:,
रासोत्सवे च गोपीनां समीपे दीक्षितौ वभौ।
कुत्रचित् गोपवेषेन गोवत्सान् चारयन् हरि:,
तथां लीलां च कृतवान् कालीया दमनादिजाम्।
सांझिका रचनं क्वापि राधा गोपीभिरेव च,
अन्या बहुविधा लीला या या कृष्णश्चकार ह।
सर्वा लीलानुकरणं कारयामास नारद:,
य त्रापुर्देवता सर्वे मुनयो व धृतव्रता:।
तत्प्राप्नुर्मनुजा सर्वे लीलदर्शनजं सुखं,
यस्मिन् दिने यदृक्षे वा कृष्णो लीलां चकार ह।
तस्मिन् दिने स्थले तस्मिन् भट्टोभास्कर संभव:,
कारयामास तां लीलां बालै: कृष्णादि वेषिभि:।
तत: प्रभृति सर्वत्र वनेषूपवनेषु च,
ब्रजे तीर्थेषु कुञ्जेषु रासलीला बभूवह।
अथ नारायणा चार्यो ब्रजयात्रां चकार ह,
सर्वेश्च वैष्णवैर्विप्रैरन्यैश्चापि जनै: सह।'[१]

यह सब करने के बाद उन्होंने करहला-निवासी ब्राह्मणों को शिष्य बनाया और बल्लभ नामक एक नर्तक की सहायता से, जो बादशाह की नौकरी छोड़कर उनका अनुगत हुआ था, उन लोगों के बीच उन्होंने रास लीलानुकरण एवं रासधारी परंपरा चलाई। यद्यपि ब्रज की बूटी लीला के आधिपत्य के विषय में १९३४ में विवाद बल्लभ संप्रदाय और निंबार्क संप्रदाय के अनुयायियों के बीच हुआ था, पर इस लीला के आद्याचार्य और प्रवर्त्तक श्रीनारायण भट्ट ही प्रतीत होते हैं। इसके कतिपय, प्रबल प्रमाण कुसुम सरोवर (गोबर्द्धन) के विद्वान् संत बाबा कृष्णदास[२] जी ने प्रस्तुत किए हैं। उनका कहना है कि

१—देखो 'नारायणाचार्य चरितामृतं' तीसरा आस्वाद।
२—देखो 'रासलीलानुकरण' और श्री श्रीनारायण भट्ट पृ० ३४

बरसाना, जहाँ उक्त लीला होती है, की वास्तविक भौगोलिक स्थिति को प्रकाश में लाने का श्रेय भट्ट नारायण जी को ही है। बरसाने की अधिदेवता आज भी श्री लाड़िली जी हैं, जिनके प्राकट्य और जीवन व्यापी आराधन का कार्य श्रीनारायण भट्ट जी ने किया। बूढ़ी लीला का सीधा सम्बन्ध श्री लाड़िली जी से है, और भट्ट लीला श्री नारायण भट्ट जी के द्वारा विरचित 'प्रेमांकुर' नाटक के आधार पर अद्यावधि अभिनीत होती है। बरसाना-चिकसौली के जमींदार श्रीनारायण भट्ट जी की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा में हैं। अतएव, यदि बरसाने की बूढ़ी लीला ही आद्य रास लीला मानी जायगी तो श्रीनारायण भट्ट को ही उसके आदि प्रवर्त्तक सिद्ध होने की अधिक संभावना है। ब्रज के सब पुराने रास धारी आज भी रास लीला के उपोद्‌घात में मंगलाचरण करते हुए श्रीनारायण भट्ट का स्मरण करते हैं—

भट्ट नरायन अति सरस ब्रज मंडल सों हेत,
ठौर ठौर रचना करी निकट जानि संकेत।

साहित्यिक नाटकों के उपसंहार में भरत-वाक्य जोड़ कर भरत के आद्याचार्यत्व की अभ्यर्थना की जाती हैं। संभव है, उसी परंपरा का पालन करते हुए वरिष्ठ रासधारी मंगलाचरण में रास लीला के आद्याचार्य की वंदना करके गुरु और ऋषि के ऋण से उऋण होने का उपक्रम करते हों।

'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार श्री प्रिया दास जी के विवरण से भी गोस्वामी जानकी प्रसाद के उल्लेखों की पुष्टि होती है—

'भट्ट श्रीनारायणजू भये ब्रज परायण,
जाय जाहि ग्राम तहाँ व्रत करि ध्यायें हैं।
बोलि कै सुनावैं इहाँ अमुक स्वरूप है जू
लीलाकुंड धाम श्याम प्रकट दिखायें हैं।
ठौर ठौर रास के विलास लै प्रकट किये
जियें यों रसिक जन कोटि सुख पाये हैं।
मथुरा तें कही चलो बेनी पूछें बेनी कहाँ,
ऊँचें गाँव आये खोदि सोत को लखायें हैं।

'भक्तमाल' के दूसरे टीकाकार महाराज प्रताप सिंह ने भी अपने 'भक्त कल्पद्रुम' नामक ग्रंथ में लिखा है कि नारायण भट्ट जी ने "......जहाँ जहाँ जो चरित्र और रास विलास भगवत् किये रहे, सब चरित्र किये, मानो श्रीकृष्ण अवतार को नवीन कर दिया और अब तक वह रास लीला की परंपरा वर्त्तमान है।" एफ० एल० ग्राउस ने भी 'मथुरा डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर' नामक

ग्रंथ में लिखा है कि रूप और सनातन गोस्वामी की शिष्य-परंपरा में नारायण भट्ट जी ने ही पहले-पहल वनयात्रा और रास लीला की परंपरा प्रतिष्ठित की।[१] इन उल्लेखों से रास लीला के उद्भव और विकास की परम्परा में श्रीनारायण भट्ट का ऐतिहासिक महत्त्व सिद्ध है। नारायण भट्ट जी परमोच्च कोटि के शास्त्र सिद्ध विद्वान् थे। उन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचना की है। विश्वनाथ चक्रवर्ती जैसे परवर्त्ती प्रकाण्ड पंडितों ने भी उनकी कृतियों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार जब हम तीनो मतों का सम्यक् समीक्षण करते हैं, तो कई निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि ईसा की सोलहवीं शती में रास लीला की वर्त्तमान अभिनयात्मक परंपरा का आविर्भाव हुआ। भक्तों ने इसको अपनी उपासना का साधन बनाया था। दूसरी बात यह कि इस परंपरा के विकास में स्वामी हरिदास और श्रीनारायण भट्ट का महत्त्वपूर्ण योग था। तीसरी बात यह कि ये तीनों ही मत करहला नामक ग्राम के ब्राह्मणों के सहयोग से रास-धारी-परंपरा का आरम्भ मानते हैं—कदाचित् सभी उदयकरन और षेमकरन को आदि रासधारी मानने के पक्ष में हैं। अतएव अब विवाद का विषय केवल यह रह जाता है कि रास-परंपरा का आद्याचार्य किसे स्वीकार किया जाय?

निंबार्क और वल्लभ दोनों ही संप्रदायों में घमड देव को रास लीला का प्रवर्त्तक माना जाता है। ये दोनों भिन्न व्यक्ति थे, अथवा एक ही व्यक्तित्व को दोनों संप्रदायों ने अपने-अपने वैशिष्ट्य के रंगों से रंगा है, यह बात स्पष्ट नहीं।[२] घमण्डदेव के सम्वन्ध में उक्त संप्रदायों के जो उल्लेख मिलते हैं, उनका कोई ऐतिहासिक आधार अथवा प्रामाणिक अनुमोदन प्राप्त नहीं होता। नाभा-दास के 'भक्तमाल' में उस काल के किसी महत्त्वपूर्ण भक्त या संत की प्रशस्ति नहीं छटी है। भक्तमाल में वल्लभ नर्तक[3] का उल्लेख है, किन्तु उसमें घमंडदेव का नाम भी न होना उनकी ऐतिहासिकता में संदेह उत्पन्न करता है। प्रियादास जी अथवा 'भक्त कलपद्रुम' के रचयिता महाराज प्रताप सिंह ने भी इनका नाम कहीं नहीं लिया है। ध्रुवदास जी ने घमंडी नाम के एक संत का उल्लेख अवश्य

---

1. '.........It was their disciple, Narayan Bhatt, who first established the Banjatra and Raslila.

२—घमण्डी रस में घुमड़ि रहयो बृन्दावन निज धाम।
बंशीवट तट वास किय गावे श्यामा श्याम।

३—नृत्य गान गुण निपुन रास में रस वरसावत।
अव लीला ललिताबि वलित दम्पतिहिं रिझावत।

किया है, पर रासलीलानुकरण के साथ उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध कहीं सांकेतिक नहीं हुआ है। इसलिए ध्रुवदास जी के 'घमण्डी' ही वल्लभ संप्रदाय अथवा निबार्क संप्रदाय के घमण्डदेव हैं, यह अनुमान करने का कोई अधार नहीं मिलता। 'रास सर्वस्व' ग्रंथ में घमण्डदेव का उल्लेख अवश्य मिलता है, पर जहाँ तक पुराने विवरण का सम्बन्ध है, यह ग्रंथ तब तक जन-श्रुतियों के संकलन से अधिक मूल्यवान नहीं समझा जा सकता, जब तक इसमें प्राप्त विवरणों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो जाती।

स्वामी हरिदास और श्री नारायण भट्ट में रासलीला का आद्याचार्य किसे माना जा सकता है ? दोनों ही महात्मा ऐतिहासिक महापुरुष हैं। स्वामी हरिदास संगीत के परमाचार्य थे, रासलीला में उनकी विशेष रुचि होना स्वाभाविक ही समझा जायगा। ब्रज में एक जनश्रुति पद भी है कि स्वामी हरिदास जी ब्रज के बालकों को इकट्ठा कर उन्हें मोरपंख से सजा कर तथा गेरू आदि से रंग कर उनकी कृष्णभाव से उपासना किया करते थे। आगे चलकर इसी का विकास लीलाभिनय के रूप में हुआ। स्वामी हरिदास जी श्रीनारायण भट्ट से अवस्था में कुछ बड़े भी थे। पर रासलीला के प्रथम प्रवर्त्तन के विषय में जितने प्रामाणिक उल्लेख श्रीनारायण भट्ट के पक्ष में प्राप्त होते हैं, उतने स्वामी हरिदास के पक्ष में नहीं मिलते। इसलिए अबतक के उपलब्ध उल्लेखों और प्रमाणों के आधार पर रासलीला की वर्त्तमान अभि-नयात्मक परंपरा के प्रवर्त्तक के रूप में श्रीनारायण भट्ट जी का ही पक्ष अधिक प्रबल और प्रामाणिक प्रतीत होता है।

एक विद्वान [१] ने हरिराम व्यास के एक पद के आधार पर स्वामी हरिदास और राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्त्तक हित हरिवंश को एक साथ रास में गान करते हुए मान लिया है। इस प्रकार इसी पदके साक्ष्य से उन्होंने स्वामी हरिदास को सं० १६०९ के पूर्व के रास में उपस्थित माना है, और नारायण भट्ट को सं० १६२६ के आस-पास रास का प्रारंभ करते हुए दिखाया है। इस संबंध में हरिराम व्यास के पद[२] का साक्ष्य बड़ा भ्रामक है। कारण हित हरिवंश और हरिराम व्यास के राधा वल्लभी संप्रदाय में अनुकरण सर्वथा निषिद्धि है। इसमें वस्तु का अपमान माना गया है। इसीलिये राधाबल्लभ जी

१—देखो श्री शरण बिदमी गोस्वामी लिखित 'स्वामी हरिदास और रास लीलानुकरण', 'त्रिपथगा' अक्टूबर, १९५७।

२—'हरिबंशी हरिदासी गावति सुघर प्रबीन रबाब बजावति।'

के मन्दिर में कभी रासलीला नहीं होती । इस संप्रदाय के भक्तों और कवियों द्वारा जो लीलायें लिखी गई हैं, वे केवल भावना के लिए हैं,अनुकरण के लिए नहीं[1] । लगभग दस वर्ष पूर्व मैं स्वामी हरिदास के टट्टी संप्रदाय के आचार्य से मिला था। उन्होंने भी मुझे यही बताया था कि रास लीला के प्रसंग में हरिदास जी ने केवल भाव की ही बात कही है । यदि यह साम्प्रदायिक निष्ठा सही है, तो धर्मदास जी को रास लीलानुकरण की अभिनय परम्परा को प्रवर्त्तक मानने का आग्रह उचित नहीं प्रतीत होता । इसके विपरीत नारायण भट्ट के गौड़ीय संप्रदाय में रास लीलानुकरण साधना के रूप में ग्राह्य था । चैतन्य भागवत के लेखक श्री वृन्दावन दास का संदर्भ प्रस्तुत करते हुए मैंने पहले ही लिखा है कि चैतन्य स्वयं कृष्णलीला के अभिनय में भाग लेते थे । उनकी प्रेरणा से धार्मिक अभिनय के अनेक रूपों का प्रचार हुआ था, यह भी बताया जा चुका है । अतएव, उनकी शिष्य-परंपरा में नारायण भट्ट का रास लीलानुकरण के प्रवर्त्तन की ओर उन्मुख होना उपयुक्त ही प्रतीत होता है । तत्कालीन सभी भक्ति-सम्प्रदायों में अभिनय को भक्ति साधना का माध्यम बनाकर उपस्थित करने का कदाचित् गौड़ीय संप्रदाय ने ही पहले-पहल प्रयत्न किया था । ऐसी स्थिति में रास लीलानुकरण की अभिनयात्मक परम्परा के प्रवर्त्तन का कार्य व्रज में भी पहले-पहल इसी संप्रदाय के एक महात्मा ने किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भावरूप में रास लीला के प्रति गहन निष्ठा सभी कृष्ण-भक्ति-संप्रदायों में विद्यमान थी । इसीलिए जब उसकी अभिनयात्मक परंपरा का प्रवर्तन हुआ, तो सब संप्रदायों के महात्माओं ने उत्साह पूर्वक उसमें सहयोग प्रदान किया। यही कारण है कि रास लीला के प्रवर्त्तकों और उन्नायकों में कुछ नाम सभी संप्रदायों की सूची में मिलते हैं । यह भी संभव है कि इस परंपरा का प्रवर्त्तन उस काल के सब महान् संतों के सम्मिलित प्रयत्न के परिणा-

---

१—श्रीकृष्णदास ने 'हमारी नाटच-रंपरा' नामक ग्रन्थ में महात्मा हित हरिवंश को रास लीलानुकरण का प्रथम प्रवर्तक कहा है । उनका कहना है कि 'भक्तराज हित हरिवंश ने महात्मा घमंडीलाल तथा बाबा हरिदास को निर्देश किया । रास लीला में दिखाई देनेवाली राधाकृष्ण की छवि का अनुरूप प्रसाधन हुआ । गोपियों का प्रसाधन स्वयं हितहरिवंश जी ने किया··· । किन्तु यह स्थापना स्वीकार्य नहीं । कारण, राधाबल्लभी संप्रदाय में लीलानुकरण निषिद्ध है, इसीलिए राधाबल्लभ जी के मन्दिर में कभी रास लीला नहीं होती ।

मस्वरूप हुआ हो। यह तो निर्विवाद है कि लोगों में आज जैसा सांप्रदायिक दुराग्रह पाया जाता है, वह उन संतों को सर्वथा अज्ञात था। हो सकता है इस युग की सांप्रदायिक खींचतानी ने उस काल के संतों के प्रयत्नों को आच्छादित कर दिया हो। इस अनुमान को कुछ जनश्रुतियों से बल भी मिलता है। एक वरिष्ठ रासधारी ने मुझे बतलाय था कि यह एक पुरानी जनश्रुति है कि निंबार्की घमंडदेव और नारायण भट्ट मित्र थे। उन दोनों के सहयोग से ही लीलानुकरण का प्राकटच और विकास हुआ था। शोध की वर्त्तमान स्थिति में इससे आगे कुछ कह सकना कठिन है।

सब मत और जनश्रुतियाँ करहला से ही रासधारी-परंपरा का प्रवर्तित होना मानती हैं। यह ठीक भी मालूम होता है, क्योंकि आज भी सारे ब्रजमंडल में करहला के रासधारियों की प्राचीनता और श्रेष्ठता निर्विवाद रूप से मान्य है। इसके साथ ही यह स्वीकार कर लेने में भी कोई विशेष बाधा नहीं होती है कि यह रासधारी-परंपरा उदयकरन और खेमकरन से चली, क्योंकि कोई मत इसका विरोध नहीं करता। वल्लभ ने भी जिन स्वरूपों को, श्री नारायण भट्ट की आज्ञा से रासलीला के अभिनय में दीक्षित किया था, वे भी करहला के ही थे। 'रास-सर्वस्व' ग्रंथ के लेखक ने अपने को उदयकरन और खेमकरन का वंशज कहा है, और उसने अपने ग्रंथ में एक वंशावली भी दी हैं, जो बीच में लगभग २७ पीढ़ी तक खंडित होने के कारण पूर्णतया प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। उक्त लेखक ने यह भी लिखा है कि उदयकरण के पुत्र विक्रम के समय में लीलानुकरण की बहुत उन्नति हुई, स्वयं औरंगजेब ने विक्रम के रास की परीक्षा ली। इसी प्रकार आगे चलकर जयपुर के किसी राजा ने भी रास की परीक्षा ली और उसमें दैवी चमत्कार देखे। कुछ दिन तक इस प्रकार उन्नति कर लेने के बाद फिर लीलनुकरण में बहुत सी विकृतियाँ[1] आ गईं, और इसलिए महात्माओं ने उसके

---

१. देखो 'रास-सर्वस्व'—

'तिनतें पीछे सुनौ रसिक रस सबै बिनसिगो,
दंभ काम मद लोभ रासधारिन उर बसिगो।
ह्वै गए सब निर्द्वन्द रासधारी जबहीं ते,
भ्रष्ट करी सब रीति लोभ बस ह्वै तब हीं ते।
जाति अजाति कुजातिन के बालक लै लै सब,
कृष्ण बेषधर दंभ बाम मारग थाप्यौ तब।
महानीच मति दुष्ट काम बस असुर समाना,
गजल रेखता, आदि गाय पामर मनमाना।'

अभिनय पर प्रतिबंध लगा दिया। फिर श्यामदास तथा बिहरीलाल ने इसका पुनरुद्धार किया। बिहारी लाल लगभग सौ वर्ष पूर्व हुए है। उनकी रासनिष्ठा व्रज में आदर्श और अनुकरणीय मानी जाती है। उन्होंने रास लीलानुकरण-विषयक बड़े कठोर नियम बनाये थे। बिहारीलाल के पुत्र राधाकृष्ण के समय में भी लीला-सौष्ठव अक्षुण्ण रहा। फिर केसवदेव जी हुए, जिनकी मंडली विदेशों को भी गई। उन्होंने रास के कलापक्ष को विशेष समुन्नत किया। उल्लिखित महात्मा श्यामदास के शिष्य व्रजलाल बौहरे ने भी रास लीला के प्रचार का महत्त्वपूर्ण काम किया था।

बिहारी लाल के समकालीन शाह कुन्दन लाल अनन्य अनुरागी थे। कहा जाता है, उन्हों ने रास में लगभग आठ लाख रुपए व्यय किए। इनके रास में सौ-सौ तक गोपियाँ रहती थीं, और जब यमुना में होली-लीला होती थी, तो रंग से यमुना की धारा लाल हो जाती थी। इनके रास का यह अनुल्लंघनीय नियम था कि उसे कोई बैंठ कर नहीं देख सकता था। उनके द्वारा आयोजित रास लीला को बड़े-बड़े लोग छिप कर देखा करते थे। ललित किशोरी जी स्वयं अच्छे कवि थे, उन्होंने 'लघुरस कलिका' नामक ग्रन्थ लिखा, एवं पुराने भक्तों और संतों की वाणियों को छोड़ कर अपने ही पदों से लीलायें करवानी आरंभ कर दी। इस पर वृन्दावन के साधुओं ने इनकी लीला में जाना बंद कर दिया। ललित किशोरी जी की ही तरह बाबा कृष्णानन्द जी ने भी रास लीला पर प्रचुर व्यय किया है। कहा जाता है लगभग ५०००) उन्होंने अपने पास से रासलीला अनुकरण के निमित्त व्यय किया। उनके रास का प्रत्येक प्रेक्षक प्रसाद और फूल माला लेकर ही उसमें प्रवेश प्राप्त कर सकता था।

रास लीला की प्राचीन गौरवमयी आध्यात्मिक परंपरा अब फिर संकटापन्न है, पहले हर एक रास मंडली में दो-चार विरक्त साधु रहा करते थे, जो इन मंडलियों को अनुशासित रखते थे, और स्वयं भिक्षा माँग कर खाते थे। पर इधर पिछले २५-३० वर्षों से यह प्रथा लुप्त हो गई है। तथापि आज भी वृन्दावन में कुछ ऐसी रास मंडलियाँ और ऐसे विरक्त साधु हैं, जो रास के विशुद्ध आध्यात्मिक रस के रसिक संरक्षक एवं सतत जागरूक प्रहरी हैं।

यद्यपि रासधारियों[१] की आधुनिक परम्परा में रास की उत्पत्ति व्रज में ही सोलहवीं शती में मानी जाती है। परन्तु अनुसंधित्सु की दृष्टि से विचार करने

---

१ तुलना करिए आनन्दकुमार स्वामी लिखित 'राजपूत पेंटिंग' भाग १ पृ० २८-२९:—

पर रासलीला का प्रारम्भ बहुत पहिले हो गया प्रतीत होते हैं।[१] कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी तक के इसके साहित्यिक उल्लेख तो मिलते ही हैं।[२] रास सम्बन्धी उल्लेख प्राचीनतम भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हैं। भरत ने रास या रासक को उपरूपक माना है और उसके तीन भेदों का भी निर्देश किया है– तालरासक, दंडरासक, और मंडल रासक।[३] नाट्यशास्त्र का रचना-काल ईसा की प्रथम शती से लगा कर ईसा पूर्व की दूसरी तीसरी शती तक माना जाता है। नाट्यशास्त्र की विश्वविख्यात टीका 'अभिनव भारती' के रचयिता अभिनव गुप्त पादाचार्य ने नवीं शती में रास को हल्लीसक के नाम से अभिहित किया है—

'मंडलेन तुयन्नृत्यं हल्लीसकमितिस्मृतम्।'

'अभिनव भारती' की रचना के बहुत पूर्व वात्स्यायन ने भी (ई० तृतीय शती) अपने काम सूत्र में हल्लीशक और नाट्यरासक का एक साथ उल्लेख किया है– हल्लीशक क्रीडनकैर्गायनैर्नाट्यरासकैः।'[४] कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने हल्लीशक नृत्य की व्याख्या करते हुए लिखा:—

'मंडलेन च यत्स्त्रीणां नृत्तं हल्लीसकं तु तत्।
नेता नत भवेदेवो गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥'

अर्थात स्त्रियों का मंडल के द्वारा जो नृत्य होता है, उसी को हल्लीसक कहते हैं। गोपियों के बीच में कृष्ण के समान इसमें एक नेता होता है।

इस प्रकार के नृत्य के बड़े पुराने चित्र भी पाए जाते हैं। अजंता की

1—"Certain of the Krishna mystries such as the Rasa Mandal, may have a very remote ancestry; perhaps an esoteric Vaishnava tradition remained more or less secret until in the Bhagavata Purna, and the subsequent medieval Sanskrit and Hindi Littarture of devotion, it became the leading theme of religius art......But we must understand that none of this development had a pedantic character; it is determin ed only by the fact that a school if inspired mystic poets found in the matter of Vrindaban Lila just that material suited to the expressions of their intuitions of divine love............"

२—देखिये श्री कृष्णदत्त बाजपेयी का निबंध 'ब्रजलोक संस्कृति' पृष्ठ १३९-१४३

३—'तालरासक नामस्यात् तत्रेधा रासकंस्मृतम्।
दंडरासकमेकन्तु तथा मंडला रासकम्।'

४—काम सूत्र २। १० २५।

दीवारों में भी दो ऐसे दृश्य हैं, जिनमें एक पुरुष अनेक स्त्रियों से साथ नृत्य करता हुआ दिखाया गया है, स्त्रियाँ कुछ बंशी बजा रही हैं, कुछ गा रही हैं, और कुछ नृत्य कर रही हैं।[१] बाघ-गुफा में भी, जो शातवीं शती की मानी जाती है, दो इसी प्रकार के चित्र[२] हैं। जिनमें स्त्री-गायिकायों के दो समूह अंकित हैं। पहले में सात गायिकायें हैं, जो एक आठवें व्यक्ति को घेर कर खड़ी हैं, जिसकी वेश-भूषा विचित्र है। उसकी अलकें कन्धों तक फैली हैं, वह पैरों में धारीदार पायजामा पहने हुए हैं और उसके दाहिने पैर[३] की स्थिति नृत्य की मुद्रा की सूचक है। वह घुटनों तक बाहुवस्त्रायुक्त 'चोलना' (deeved tunic) पहने है, जो कुछ सफेद और कुछ हरा है। उसकी हथेलियाँ अन्य नर्त्तकियों के ही समान ऊपर को खुली हैं, हाथों में वलय हैं, और मस्तक पर दुहरी धारियों वाला श्वेत चैल (Scarf)। दूसरे चित्र में भी एक समूह एक नर्त्तक के पास खड़ा है इस समूह में छः गायिकायें हैं। नर्त्तक एक लंबा हरा 'चोलना' (tunic) और धारीदार पायजामा पहने है, कानों में कुन्डल तथा हाथों में वलय धारण किए हुए है। ये दोनों ही हल्लीशक नृत्य के निदर्शन माने जाते हैं।

पुराणों में रासक-नृत्य के जो विवरण मिलते हैं वे बहुत कछ एक ही जैसे हैं और उनसे हल्लीसक के साथ उसका अभेद प्रमाणित होता है। चौथी शताब्दी में प्रणीत माने जाने वाले हरिवंश पुराण में रास लीला वाले अध्याय को 'हल्लीसक क्रीडनं'[४] कहा गया है। विष्णु पुराण, ब्रह्म पुराण, एवं श्रीमद्‌भागवत्[५] पुराण में भी रास-लीला का विस्तृत वर्णन मिलता है। "इन चारों पुराणों से रास के प्राचीन स्वरूप का कुछ पता चलता है। वह मंडल या गोल घेरे में होता था। दो पुरुषों के वीच में एक स्त्री और कभी-कभी दो स्त्रियों के बीच में एक पुरुष—इस प्रकार मंडल बाँध कर नृत्य किया जाता था। नर्तकियाँ विशेष रूप से कंकण, मेखला, नूपुर आदि मधुर शब्द करने वाले आभूषणों से अलंकृत रहती थीं। नृत्य में स्त्रियाँ पुरुषों का अनुकरण करती थीं। साथ-साथ ऋतु के अनुकूल काव्य तथा अनेक प्रकार के गीत ध्रुव आदिक स्वरों में गाये जाते थे।"[६]

१—दे० रविशंकर रावत रचित 'अजंता का कला मंडप' पृ० ३२

२—दे० 'बाघ केवज' इंडिया सोसाइटी लंदन द्वारा प्रकाशित।

३—अध्याय ८० श्लोक १३–४२

४—अं० ५ अध्याय १३.

५—दशम स्कंध पूर्वार्ध—रास पंचाध्यायी।

६—श्रीकृष्ण दत्त वाजपेयी का रास-विषयक लेख (ब्रजलोक संस्कृति ग्रन्थ पृ० १३९–१४३)

भास के 'बाल चरित्र' नाटक के तीसरे अंक में भी हल्लीसक नृत्य का वर्णन मिलता है। उक्त अंक में गोपगण भगवान् कृष्ण के असुरनाशकारी कृत्यों की प्रशंसा करते हुए बताते हैं कि वे वृन्दावन में अपने सखाओं और गोपियों के साथ हल्लीसक नृत्य कर रहे हैं।

'स्त्रीभिश्च पुरुषैश्चैव धृत हस्तैः क्रमस्थितैः,
मंडले क्रियते नृत्यं स रासः प्रोच्यते बुधैः।'

इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि हल्लीसक नृत्य एक मंडल-नृत्य होता था, जिसमें प्रायः एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियाँ नृत्य करती थीं।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त गर्ग संहिता, वृहद् गौतमीय तंत्र, रासोल्लास तंत्र, राधातंत्र तथा रहस्य पुराण आदि में भी रास के उल्लेख हैं। जीव गोस्वामी जी ने श्रीमद्भागवत की रास नवाध्यायी की टीका में रास को 'इदं तु मंडलं नृत्यं' कहा है। उहोंने इसे दो प्रकार का बताया है—(१) जिसमें स्वयं नट ही भ्रमण करता हुआ नृत्य करता है और (२) जिसमें नर्त्तकियाँ भ्रमण करती हैं। पहले के भी दो भेद बताए गए हैं—(१) सव्य भ्रमण और (२) अपसव्य भ्रमण। इस मंडल नृत्य का एक प्रकार चक्र-नृत्य भी कहलाता है। मैंने पहले लिखा है कि सव्य भ्रमण और अपसव्य भ्रमण मुझे स्वकीय भाव और परकीय भाव की उपासना अथवा वैधी एवं रागानुगा भक्ति-पद्धति के प्रतीक प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त उल्लेखों में रास के तीन प्राचीन नाम मिलते हैं, रासक, हल्लीसक, और नाटय-रासक। इनमें प्राचीनतम किसे माना जाय? यह बताया जा चुका है कि कतिपय प्राचीन आचार्यों ने रासक और हल्लीसक दोनों नामों का एक ही साथ और एक ही प्रसंग में प्रयोग किया है। 'भाव प्रकाशन' नामक ग्रन्थ में रासक शीर्षक के अन्तर्गत आठ प्रकार के नृत्यों का उल्लेख है, जिनमें अन्तिम रासक कहा गया है। 'भाव प्रकाशन' में 'रासक' की जो परिभाषा मिलती है, नाटच दर्पण एवं 'अभिनव भारती' आदि में उसी को हल्लोसक की परिभाषा के रूप में उद्धृत किया गया है।[1] यह बात भी ध्यान देने की है कि भाव प्रकाशन की कुछ पुराती प्रतियों में 'रासक' के स्थान पर 'हल्लीसक पाठ भी मिलता है—

१—मंडलेन तु यन्नृत्यं दद्रासकमितिस्मृतम्।
ऐकैकस्तस्थ नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥—भाव प्रकाशन
मंडलेन तु यन्नृत्यं हल्लीसकमितिस्मृतम्॥—अभिनव भारती
यन्मंडलेन नृत्तं स्त्रीणां हल्लीशकं तु तत्त्वाहुः।
तत्रैको नेता स्यात् गोपस्त्रीणमिव मुरारिः।—नाट्य दर्पण

मंडलेन तु यन्नृत्तं तद्रा (हल्ली) संकमिति स्मृतम् ।
एकैकस्तस्य नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥

यद्यपि 'रासक' और हल्लीसक के एक ही अर्थ में अनेक प्रयोग मिलते हैं, पर रास का मूल नाम रासक ही प्रतीत होता है। सम्भवतः रासक को लासक भी कहते थे, लास्य से इसका संबंध सूचित करने वाले कुछ प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।[1] इतना निर्विवाद है कि रासक अपने प्रथमोद्भव-काल में एक आदिम नृत्तरूप[2] मात्र था, संभवतः नृत्य-अवस्था प्राप्त करके ही यह हल्लीसक या हल्लीस कहलाया। यह भी सम्भव है कि हल्लीशक या हल्लीस भी आरम्भ में रासक का ही समानान्तर एक स्वतंत्र नृत्य रूप रहा हो, किन्तु कालान्तर में जब दोनों का वैशिष्ट्य और पार्थक्य लुप्त हो गया हो तो उनका प्रयोग एक ही अर्थ में होने लगा हो। आगे चल कर जब रासक में नाटच एवं अभिनय के विनय के विविध तत्वों का समावेश हो गया, तो नाटच रासक के रूप में उसकी परिणति हुई और हल्लीश भी उस रूपक का एक स्वतंत्र भेद मान लिया गया।

'भाव प्रकाशन' में नाटच रासक का जो विवरण मिलता है, उसमें प्रारम्भ में बताया गया है कि इस में सोलह, बारह या आठ नायिकायें पिंडीबंधादि नृत्य करती हैं। वास्तव में यह रासक का ही परंपरा प्राप्त लक्षण है—

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यंति नायिकाः।
पिंडीबंधादि विन्यासैः रासकं तदुदा हृतम् ॥

फिर यह नाट्य रासक क्यों कहलाया ? यह रहस्य 'भाव प्रकाशन' में इसी प्रसंग के अगले श्लोक में खोला गया है—

१—लास्य मस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समुदीरितम् ।
वुद्धवा तु ताण्डवं तण्डो मर्त्येभ्यो मुनयेऽवदत् ।
पार्वत्या मनुशास्त्यमस्मात् लास्यं ब्राह्मणजामुषाम् ।
तया द्वारावती गोप्यः ताभिः सौराष्ट्र्यो हिता (१ योषितः) ॥
ताभिश्च शिक्षिता नार्यो नाना जानपदाः सदा।
एवं परंपरा प्राप्तं ततो लोके प्रतिष्ठितम् ॥

२—दे० डी० आर मानकद की 'टाइम्स आफ संस्कृत ड्रामा' पृ० १४० और १४२ ।

कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत्र नृत्यते ।
रागाद्वसंतमालोक्य सज्ञेयो नाट्यरासक: ।।

अर्थात् नाटच रासक की स्वकीय विशेषता यह है कि उसमें उपर्युक्त नृत्यपरायण नायिकायें किसी राजा के चारित्र्य और कृति को अपने नृत्य द्वारा प्रदर्शित करें । किसी राजा के चारित्र्य और कर्तृत्त्व का नृत्यात्मक प्रदर्शन सम्यक् संयत्र हो सके, इसलिए उसका शास्त्रीय कोटि-क्रम भी निर्धारित कर दिया गया। साहित्य दर्पणकार के अनुसार उसमें एक ही अंक होता है, नायक उदात्त, उपनायक पीठमर्द और नायिका वासक सज्जा होती है । इसमें सब लास्यांगों का होना आवश्यक है। इसका अंगी रस श्रृंगार सहित हास्य होता है, और दो अथवा चार (प्रतिमुख के अतिरिक्त) संधियां होती हैं। अन्य पूर्ववर्ती औरपरवर्ती आचार्यों ने भी इसी प्रकार नाटच-रासक की शास्त्रीय मर्यादा निर्धारित की है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'रासक वस्तुत: एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है । रास में वही भाव है । सट्टक भी ऐसा ही शब्द है । लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाटचशास्त्रियों ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था । इन शब्दों का अर्थ विशेष प्रकार के विनोद और मनोरञ्जन थे ।'[१] कहा जा चुका है कि भाव प्रकाशन में नाटचरासक की स्वकीय विशेषता यह बताई गई है कि इसमें किसी राजा के चरित्र का प्रदर्शन हो । मेरा अनुमान है कि इसी मूलभूत विशेषता के उन्मेष के फलस्वरूप चरित-काव्यों की वह परम्परा चली, जिसमें चरितनायक के नाम के साथ रासो नाम जोड़ना रूढ़ हो गया और मध्यकाल में रासो केवल चरित काव्य का सूचक रह गया ।

अपभ्रंश में अनेक रासकों की रचना हुई, इनमें अद्दहमाण का 'संदेश रासक' विशेषरूप से उल्लेखनीय है। श्रीनामवर सिंह ने लिखा है "कि 'संदेशरासक' को देखते हुए लगता है कि इस प्रकार के रास काव्यों का संबंध गोप-गोपियों की रास लीला से अवश्य रहा होगा ।" यह कथन अधिक से-अधिक आंशिक सत्य ही माना जा सकता है । संदेश रासक में जिस नृत्यरूप की व्यंजना है, वह रास लीला के नृत्यरूप से भले ही बाहरी साम्य रखता हो, पर रास लीला के उल्लिखित आध्यात्मिक स्वरूप का कुछ भी आभास अद्दहमाण की रचना में नहीं मिलता । डा० दशरथ ओझा ने सदेश रासक के अध्ययन के पश्चात् जो निष्कर्ष निकाला है, वह भी विचारणीय है । उनका कहना है कि यह रासक पूर्णतया विकसित नाटकों के प्रारभिक काल का वह रूप है जिसमें

१—दे० हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० १००–१०१ ।

श्रव्य-काव्य अभिनय कला की सहायता से दृश्य काव्य में परिणत हो रहे हैं। बहुरूपियों से प्रदर्शन होने का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।

मैंने ऊपर रासक के विकास का जो क्रम निरूपित किया है, उसको देखते हुये डा० दशरथ ओझा का यह निष्कर्ष संगत नहीं प्रतीत होता। मैंने यह दिखाया है कि जिस समय 'संदेस रासक' की रचना हुई थी, उस समय 'पृथ्वीराज रासो' और 'बीसल देव रासो' की तरह के चरित काव्यों की रचना की परंपरा भी चल पड़ी थी। अतएव स्पष्टतः वस्तुस्थिति तो यह प्रतीत होती है कि दृश्य काव्य अपने अभिनेय गुणों और उपकरणों को छोड़ कर श्रव्य काव्य में परिणत हो रहे हैं। पृथ्वीराज रासो में परिणित की यह क्रिया पूरी हो चुकी है, और संदेश रासक में अभी वह आधे मार्ग में ही है। इसका प्रमाण यह है कि संदेश रासक पूर्ण अभिनय रचना नहीं, अद्दहमाण का साक्ष्य भी उस काल के रासक, रासो या रास को पाठ्य या श्रव्य-काव्य ही सिद्ध कर पाता है। अद्दहमाण का कहना है कि उसके समय के रास बहुरूपियों द्वारा भाषित होते थे, प्रेक्षित या प्रदर्शित नहीं। 'कहु बहुरुपि णिबद्धहु रासउ भासियउ। अद्दहमाण के इस कथन की टीका में भी यही बात पुष्ट की गई है- 'कुत्रापि बहुरूपिभिर्निबद्धो रासको भाष्यते।' इस से यह सिद्ध होता है कि रास जो नाट्य रासक के रूप में कभी पूर्ण अभिनेय कलाकृति बन गया था, अब केवल बहुरूपिये के संभाषण की वस्तु हो गया था।

अपने पाठ्य काव्य के बहुरूपिया इन रासकों के पात्रों की वचन रचना, भाव भंगिमा तथा विविध मुद्राओं का प्रदर्शन उसी प्रकार पाठ करते समय कुशलता के साथ करते थे, जिस प्रकार आज-कल के बहुत से कुशल और सफल कथा-बाचक करते हैं। मेरा अनुमान है रासक की नाटकीयता का विकास और ह्रास एक चक्र के रूप में हुआ है। शुद्ध नृत्य रूप से आरंभ करके रासक नृत्य नाट्य से युक्त हो नाट्य रासक के रूप में पूर्ण अभिनेय नाटक का रूप प्राप्त किया। फिर जब उसके इन गुणों का ह्रास होने लगा, तो उसने 'संदेश रासक' जैसा एक अर्द्धनाटकीय या अर्द्ध श्रव्य रूप प्राप्त किया। अपनी नटाकीय विशेषताओं को छोड़ कर वह दृश्य काव्यात्मक रासक न रह कर पृथ्वीराज रासो जैसा श्रव्य-काव्यात्मक रासक बन गया। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में दृश्यकाव्यों की श्रव्य काव्यों के रूप में परिणति की जो प्रक्रिया हो रही थी, हिन्दी नाटक का इतिहास समझने के लिए उस पर ध्यान देना आवश्यक है। अपभ्रंश के अधिकांश रासक इसी प्रक्रिया की कोई न कोई अवस्था सूचित करते हैं। जो संभव है, सीधे जनता के संपर्क में रहनेवाले कुछ रासक रूप इस प्रक्रिया के प्रभाव से मुक्त रह कर अपनी मूल नाटकीयता अक्षुण्ण रख सके हों, पर अद्यावधि उपलब्ध

प्रायः सभी साहित्यिक रसिक इस प्रकृत्ति का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। डा० दशरथ ओझा ने 'गयसुकुमार नाटक' को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है और इसी प्रकार विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से हिन्दी नाटक के विकसित रूप की परंपरा की अवतारणा सिद्ध की है।

यदि 'गयसुकुमार रास' संदेश रासक की तरह नाटच-तत्त्वों के ह्रास की प्रवृत्ति सूचित नहीं करता, तो उसे नाटक मान लेने में हमें आपत्ति नहीं। पर जब राजस्थान के ग्रंथागारों में अब भी असंख्य रासक ग्रंथ अज्ञातावस्था में पड़े हैं, तो 'गयसुकुमार रास' को ही हिन्दी का प्रथम नाटक सिद्ध करने का आग्रह उचित नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः भारतीय नाटच-परंपरा का पूर्ण ह्रास या लोप कभी नहीं हुआ, समय-समय पर उसने नए-नए रूप अवश्य ग्रहण किए। अपभ्रंश-काल में संस्कृत के नाटक तो लिखे ही जा रहे थे, इसलिए अपभ्रंश के उत्संग में जन-नाटकों के ही प्रश्रय पाने की संभावना थी। अपभ्रंश ने जिन जन-नाटकों का विशेष संवर्द्धन किया, उनमें रासक या रास प्रधान है। पर अपभ्रंश के साहित्कारों के संपर्क में आ कर रासक अपना दृश्यत्व छोड़ कर श्रव्य बनने लगा, यह बात ऊपर दिखाई जा चुकी है।

इस प्रसंग में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य भी ध्यान में रखना आवश्यक है। वह यह कि इस देश में अभिनय और रंगमंच की परंपरा का बड़ा विलक्षण विकास हुआ और भाव, राग तथा ताल में निष्णात भरतों की एक ऐसी जाति ही बन गई जो वंशानुक्रम से उक्त परंपरा के संरक्षण के लिए उत्तरदायी रही। इन भरतों के संरक्षण और प्रशिक्षण में प्रत्येक अंग के ऐसे अभिनय-संकेतों का विकास हुआ, जिनके द्वारा महाभारत और रामायण जैसे विशाल श्रव्यकाव्यों को रंगमंच पर अभिनेय बना कर प्रस्तुत कर दिया जाता था। दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरों की भित्तियों पर इस प्रकार के अभिनयों के चित्र मिलते हैं। अभिनय की इस परंपरा में किसी भी प्रकार की कृति को अभिनेय और रंगमंचीय बना कर प्रस्तुत करने की क्षमता थी। संभव है, अपभ्रंश-काल में ऐसे अभिनेता रहे हों, जो अर्द्धनाटकीय या अर्द्धश्रव्य रासकों का अभिनय प्रस्तुत करते हों। हो सकता है, अद्दहमाण ने बहुरुपि कह कर उन्हीं की ओर संकेत किया हो। आगे चल कर सोलहवीं-सत्रहवीं शती में जब रासधारियों की परंपरा चली, तो उन्होंने भी सूरदास, नन्ददास, हितवृंदावनदास आदि कवियों की लिखी हुई लीलाओं को अभिनेय बता कर उपस्थित करने की पूर्ण पटुता प्रदर्शित की। ये लीलायें साहित्यिक नाटकों की मर्यादा का पालन नहीं करतीं पर वे रास के रंगमंच और अभिनय के सर्वथा अनुकूल हैं। रासधारियों को उनकी नाटकीयता या संविधान के विषय में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं। कारण रास-

लीला नाटकों के प्रणेता इस अभिनय परंपरा से पूर्णतया परिचित हैं और उसी के अनुरूप रचना भी करते हैं। इस परंपरा से अनवगत रहने के कारण ही अध्येताओं में मध्यकालीन लीला-नाटकों के विषय में दुर्लक्ष्य उत्पन्न हुआ है।

अपभ्रंश के रास-नाटक अधिकांश लौकिक और कुछ धार्मिक भी थे। पर सत्रहवीं शताब्दी में ब्रज में जिन रास लीला-नाटकों के प्रणयन और प्रेक्षण की परंपरा चली वे अधिकांश परमोच्च आध्यात्मिक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित थे, यह दिखाया जा चुका है। रास लीला नाटकों का यह उत्थान हिन्दी-नाटक साहित्य का स्वर्ण युग माना जा सकता है। डा० दशरथ ओझा का कहना है कि रास लीला नाटक-की परंपरा नन्ददास से आरम्भ होती है। उनका मत है कि गोवर्द्धन लीला नाटक की रचना कर नन्ददास जी ने रासलीला नाटकों की नई परंपरा चलाई। पर पता नही डा० ओझा सूरदास जी के लीला नाटकों को क्यों भूल गए ? उन्होंने नन्ददास जी की गोवर्द्धन लीला में जो नाटकीय विशेषताएं निरूपित की हैं, वे सूरदास जी की पनघट-लीला और दानलीला आदि में भी मिलती हैं। सूर की 'पनघट-लीला' में 'हरि त्रिलोकपति पूरनकामी' बारह वर्णों का शुद्ध नान्दी है। दान-लीला में भी 'भगतनि के सुखदायक स्याम' ऐसा ही बारह वर्णों का नान्दी है। दोनों में ही प्रेक्षकों का चित्त आकृष्ट करने के लिये भगवान् के अंतर्यामित्व और भक्तवत्सलता का वर्णन किया गया है। डा० ओझा ने लीला-नाटकों के तीन गुण बताए हैं,—मनोरंजन, अभ्युदय की प्राप्ति और निःश्रेयस की सिद्धि। ये तीनो गुण भी सूर की उपर्युक्त लीलाओं में विद्यमान हैं। सूर ने दान-लीला के उपोद्‌घात में कहा है—

'संकट में जिन जहाँ पुकार्‌यौ। तहाँ प्रगटि तिनकौ उद्धार्‌यौ।
सुख भीतर जिनि सुमिरन कीन्हौं। तिनकौं दरश तहाँ हरि दीन्हौं।

× × ×

सूर स्याम संग सखनि बुलायौ। यह लीला कहि सुख उपजायौ।

इस उद्धरण में मनोरंजन, अभ्युदय एवं निःश्रेयस तीनों की व्यंजना है। मेरा यह निश्चित मत है कि 'सूरसागर' के अंतर्गत लीलानाम के जितने प्रकरण हैं, वे सब लीला-नाटक ही माने जाने चाहिए। सूरदास जी के सम-सामयिक और सहयोगी प्रायः सभी कवियों ने इस प्रकार को अभिनेय लीलायें लिखी हैं। इन रास लीलाओं के प्रणेताओं के विषय में यथास्थान आवश्यक उल्लेख किए गए हैं।

डा० दशरथ ओझा ने रास-शैली की आठ विशेषतायें बताई हैं:—

१—संपूर्ण नाटक छंदोबद्ध एवं गेय होता है।

२—रास-नाटकों में गद्यभाग सर्वथा उपेक्षित रहता है।

३—नाटक के सभी पात्र अथ से इति तक रंगमंच पर ही विद्यमान रहते हैं। पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण का संकेत नहीं मिलता।

४—संपूर्ण नाटक नृत्य और गीत पर अवलंबित होता है।

५—इन रास नाटकों का मंगलाचरण और प्रशस्ति-पाठ स्वांग नाटकों के सदृश होता है।

६—रास के अन्त में नाटचकार नाटक लिखने का प्रयोजन बताते हैं, और उसके द्वारा पुण्यफल की प्राप्ति का उल्लेख करते हैं।

७—रास नाटक में स्वांग के सदृश सभी दृश्य पट-परिवर्तन रहित होते हैं। उनमें संस्कृत-नाटकों के समान अंक, प्रवेशक, विष्कंभक तथा अंकावतार आदि नहीं होते।

८—रास की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रायः नितान्त अभाव तथा देशज और तद्भव शब्दों का बाहुल्य है।

इन विशेषताओं से रास-शैली के नाटकों का सम्यक् परिज्ञान तो हो ही नहीं पाता, अपितु कुछ भ्रम उत्पन होने की संभावना अवश्य उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण स्वरूप डा० ओझा का यह कथन ठीक नहीं कि रास-नाटकों में गद्य-भाग सर्वथा उपेक्षित होता है। मैंने यथा-स्थान रास-नाटकों के अभिनय में पात्रों के संवाद के अंतर्गत प्रयोग में लिए जाने वाले गद्य का उल्लेख किया है। अवश्य, लेखकों ने रास-नाटकों में गद्यांश नहीं जोड़े हैं, पर रासधारी यथा स्थान गद्य का प्रयोग प्रायः प्रत्येक लीलाभिनय में करते हैं। ब्रजभाषा की जिस मधुरता की प्रसिद्धि है, उसका यथार्थ स्वरूप रास लीला के अन्तर्गत उसके गद्यात्मक कथोपकथनों में ही परिलक्षित होता है। बड़े-बड़े यशोलब्ध कवियों की रचनाओं की साहित्यिक माधुरी इस बोलचाल की ब्रजभाषा के प्राकृत के समक्ष फीकी लगती है। यह कहना भी ठीक नहीं कि रास नाटकों का मंगलाचरण और प्रशस्ति-पाठ स्वांग-नाटकों के सदृश होता है। मैंने आरम्भ में ही बताया है कि रास लीला-नाटक के पूर्व रंग की विस्तृत विधि शास्त्रीय ग्रंथों में मिलती है। इसका पूरा पूरा पालन अब भले ही न होता हो, पर स्वाँग नाटकों के पूर्वरंग से तो वह निश्चय ही अधिक उदात्त और परिमार्जित होता है। रास-नाटकों की भाषा के संबंध में भी डा० ओझा का मत मान्य नहीं। जिन नंददास को लेखक ने रासलीला-नाटक की परंपरा का प्रवर्त्तक माना है, उन्हीं की भाषा में 'तत्सम शब्दों का प्रायः नितान्त अभाव नहीं अपितु उल्लेखनीय बाहुल्य है।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नंददास के विषय में लिखा है कि इन्होंने कृष्ण की रास लीला का अनुप्रासादि युक्त साहित्यिक भाषा में विस्तार के साथ वर्णन किया है। 'अनुप्रास और संस्कृत पद-विन्यास आदि की ओर इनकी प्रवृति' प्रसिद्ध है। तो फिर डा० ओझा किन रास नाटकों कि भाषा की ओर संकेत कर रहे हैं,यह समझ में नहीं आता। प्रचलित नौटंकी को देखकर उसकी भाषा के विषय में ये ही बातें कही जातीं, तो संभव है ठीक होतीं। इसके अतिरिक्त रास लीला-नाटकों की कुछ स्वरूपगत विशेषताओं का उल्लेख भी डा० ओझा ने नहीं किया है। इस विवेचन में यथास्थान उन सब का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनके बिना रास लीला निकृष्ट ग्राम्य मनोरंजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती।

इसी प्रसंग में रास लीला के उत्पत्ति-स्थान के समस्या पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। कुछ विद्वान् सौराष्ट्र को रास का उत्पत्ति-स्थान मानते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि वहाँ की स्त्रियों में अब भी रास-नृत्य का प्रचार है। किन्तु गुजरात के रास-नृत्य के ही समान आसाम के अन्तंगत मणि-पुर का रास-नृत्य भी प्रसिद्ध है। अपने देश के कुछ अन्य भागों में में भी इस प्रकार के नृत्य का प्रचार है। ऐसी स्थिति में किसी अकाट्य प्रमाण के अभाव में रास के अकाट्य-स्थान का निर्धारण कठिन है। यदि भगवान कृष्ण के जन्म और जीवन से संबंधित स्थानों को महत्त्व दिया जाय, तो ब्रज अथवा सौराष्ट्र को ही रास का उद्भव-स्थल माना जा सकता हैं। यदि भगवान कृष्ण के व्यक्तित्व को केन्द्र बना कर रास लीला की परंपरा चली होगी, तो उसका प्रवर्त्तन पहले ब्रज में हुआ होगा और फिर वह भगवान के द्वारका-प्रवास के साथ-साथ सौराष्ट्र को गई होगी। सौराष्ट्र में रास की परंपरा अखंड रूप से चलती रही, किन्तु मुसलमानों के आंतकपूर्ण शासन-केन्द्र देहली के निकट होने के कारण ब्रज में वह खडित अवश्य हो गई होगी। सोलहवी-सत्रहवीं शती में श्री श्रीनारायण भट्ट, स्वामी हरिदास, महाप्रभु वल्लभाचार्य जैसे महान भक्तों और सतों की प्रेरणा और प्रयत्न से रास-लीलानुकरण के रूप में नई शक्ति के साथ इसका नव्योत्थान घटित हुआ। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि रास लीला-नाटकों की जिस परंपरा का हिंदी के साथ सीधा संबंध है, उसका उत्पत्ति स्थान ब्रज ही है।

रास लीला-नाटकों की प्रविधि का बड़ा व्यापक प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी-काव्य पर पड़ा। भक्त कवियों की रचना में गेयता और अभिनेयता का जो विशेष उत्कर्ष देखा जाता हैं, उसके मूल में इन रास लीला-नाटकों की ही प्रेरणा प्रधान है। रीति कालीन कवियों पर भी लीला-नाटकों का प्रभाव देखा

जा सकता है। अनेक प्रमुख रीति कालीन कवियों ने ऐसे छंद लिखे हैं जिनमें निकुंज अथवा छद्म लीलाओं के नाटकीय संयोजन किया गया है। उदाहरण स्वरूप देव का एक छंद उद्धृत किया जा सकता है—

राज पौरिया के रूप राधे को बनाइ लाईं,
गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि में।
टेरि कह्यो कान्ह सों,चलौ हो कंस चाहै तुम्हैं,
काके कहे लूटत सुने हो दधि-दानि मैं।
संग के न जाने गए डगरि डराने 'देव',
स्याम ससवाने से पकारि कर पानि मैं।
छूटि गयो छल सों छबीली की बिलोकनि मैं,
ढीली भई भौहैं वाल जीली मुसकानि मैं।

भारतेन्दु जी ने रासलीला नाटकों की परंपरा और प्रविधि का अत्यन्त कलात्मक प्रयोग अपनी 'चन्द्रावली' नाटिका में किया है। वियोगी हरि जी की 'छद्मयोगिनी' नाटिका भी इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

४

मध्यकालीन धार्मिक नाट्य-परंपरा

राम लीला

(१)

आनन्द कुमार स्वामी ने राम लीला और कृष्ण लीला (रास लीला) का विवेचन करते हुए लिखा है:—

"..........that the Ramayana is Pseudo-historical and is designed to be a social ideal, while the Krishna Lila is symbolic and eternal, and Brindaban is not this world, but the heart of man by a righteous life may approach to a nearer Union with the Lord: the Krishna Lila explains the very nature of union accomplished. These are different matters."

अर्थात् दोनों में तात्त्विक भेद है। रामायण अर्द्ध ऐतिहासिक है और उसका लक्ष्य सामाजिक आदर्शवाद है। इसके विपरीति कृष्ण लीला प्रतीकात्मक है, शाश्वत है। वृन्दावन भौतिक नहीं वरन् मनुष्य का हृदय है। रामायण बताती है कि किस प्रकार मनुष्य पवित्र जीवन व्यतीत करता हुआ भगवान के सामीप्य और सारूप्य का अधिकारी बनता है और कृष्ण लीला स्वतः भगवत्प्राप्ति के सुख अथवा भगवान के सारूप्य के स्वरूप की व्याख्या है। विद्वान लेखक का आशय यह प्रतीत होता है कि राम लीला साधना मार्ग का निर्देश करती है और रास लीला सिद्धावस्था के अनुभव और आनन्द का प्रतीकात्मक प्रकाशन है।[१] रास लीला के चित्स्वरूप का आवश्यक स्पष्टीकरण किया जा चका है। दोनों के भेद को ठीक-ठीक समझने के लिए रास लीला के दार्शनिक आधार का संक्षिप्त विवेचन भी आवश्यक है।

वैष्णवों के अनुसार भक्तों में स्वभाव अथवा अधिकारी भेद से रसानुभूति की पाँच प्रक्रियाएँ होती हैं:—(१) मधुर, (२) वातसल्य, (३) सख्य, (४) दास्य

१—दे० अ० कु० स्व० कृत रा० पे० दूसरा भाग प्रथम अध्याय पृष्ठ २७ पाद टिप्पणी।

और (५) शांत। वैष्णवाचार्यों ने इन्हें पाँच स्वतंत्र रस ही माना है और इन पाँचों रसों की भगवत्विषयी रति के भी पाँच रूप (पाँच स्थायी भाव) माने गए हैं—मधुर की कान्ता या मधुरा, वात्सल्य की अनुकरण, सख्य की प्रेय, दास्य की प्रीति और शांत की शान्ति। यह बात सदैव ध्यान में रखने की है कि साहित्यिकों के और भक्तों के रस में मौलिक अंतर है[1]। "पहले जड़ोन्मुख होते हैं, दूसरे (भक्तों के) चिन्मुख। ब्रज लीला अथवा रास में प्रधानतया वात्सल्य सख्य और मधुर रसों की ही अभिव्यक्ति हुई है। यह बताया जा चुका है कि कृष्ण की नन्द भवन की लीलाओं में मधुर रस की व्यंजना हुयी है। शान्त रस की निष्पत्ति के लिए रास में (ब्रज लोला भर में) अवकाश ही नहीं। कबीर आदि निर्गुण मत के भक्तों की वाणी में शांत रस की प्रधानता है। राम लीला में दास्य रस की अभिव्यंजना प्रधान है। "दास्य स्वभाव का ीतिरस दो प्रकार का होता है:—संभ्रमगत और गौरवगत। भगवान के ऐश्वर्य स्वरूप के प्रति संभ्रम और गुरुता का भाव रखने वाले भक्त इसी श्रेणी में आते हैं। दास्य-रस का विषय रूप आलम्बन भगवान का वह एश्वर्य रूप है जिसके इशारे पर माया कोटि कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि करती है जो राजाओं के भी राजा हैं जिसकी शक्ति का एक एक कण विश्व को उद्भासित करता है और जो सत्य न्याय और शुभ कर्म आदि के आकार हैं। भगवान के इसी ऋद्धि सिद्धि सेवित रूप के प्रति आकृष्ट भक्त उनका दास होने का अभिमान करता है[2]।"

दास्य या प्रीति रति की साधना अथवा अनुभूति के लिए किसी प्रकार की गुह्य या रहस्य को धारणा की आवश्यकता नहीं। वह सब के लिए सुलभ है क्योंकि उसका मार्ग सीधा सादा और स्वाभाविक है। दास्य रस की प्रीति सेवक सेव्य भाव की भक्ति द्वारा होती है। उसके रसिक खुले हुए विश्व के

१—दे० 'भक्ति रसामृत सिन्धु।'

२—सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल विरचित माया॥
जाके बल विरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥
धरै जो विविध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता॥
हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृप दल मद गंजा॥
खरदूषण त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥
जाके बल लव लेस ते जीतेऊ चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेऊ प्रिय नारि॥

बीच भगवान की कला की भावना करते हैं। सेवक सेव्य भाव की भक्ति का सिद्धांत बताते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है—

"सो अनन्य अस, जाकर मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप रासि भगवन्त॥"[1]

इस प्रकार की भक्ति की भावना अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में 'सचराचर' में भगवान की ही 'रूपरासि' की भावना मिलती है। यह भी कहा गया है कि 'तस्मिन् ह तस्युर्भुवनानि विश्व।' अर्थात् उस प्रजापति पुरुष (परमात्मा) में विश्व भुवन—सारे लोक स्थित हैं। वेदों में इस आशय के अन्य अनेक मंत्र हैं। एक मंत्र में प्रजापति पुरुष से प्रार्थना की गई है कि 'हे पुरुष श्री और लक्ष्मी आपकी पत्नियाँ हैं,[2] दिन और रात पार्श्व हैं, नक्षत्र ही रूप हैं। मेरे लिए इस लोक और उस लोक में मंगल की भावना कीजिए।'[3] वेदों में जिसे पुरुष कहा गया है शतपथ में उसे ही नरायण कहा गया है:—'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतितिष्ठे य सर्वाणिभूतानि।' नारायण के विश्व रूप के स्पष्ट उल्लेख इसी प्रसंग में मिलते हैं—'नियुक्तान् पुरुषान् ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणोनाभिष्णौति सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्ये तेन शोऽशर्चेन'। महाभारत काल तक पहुँचते इन्हीं पुरुष अथवा नारायण की उपासना सात्त्वत धर्म, पांचरात्र, वैष्णव धर्म, और भागवत धर्म आदि अनेक नामों से प्रचलित हो गई। महाभारत के अन्तर्गत गीता में कृष्ण का विराट् रूप-दर्शन वस्तुतः भगवान के विश्वरूप की ही व्याख्या है। यदि इस विचार परम्परा को ध्यान से देखा जाय, तो इस में सगुण-मत-वाद और अद्वैत दर्शन के समन्वय का प्रयास भी स्पष्ट दिखायी पड़ेगा। यह समन्वय गीता, महाभारत के नारायणीय पर्व, और विष्णु पुराण आदि सब में मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य श्री रामानुज ने इस पुरातन भावधारा को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया और उसे शास्त्रीय स्वरूप दे डाला जो विशिष्टाद्वैत[4] दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है।

रामानुजाचार्य ने तीन प्रकार के पदार्थ माने हैं। उन्हें तत्त्व त्रय भी कहते हैं:—(१) अचित्, (२) चित् और (३) ईश्वर (प्रत्यक्ष तथा गोचर

१—देखिये सुंदरकांड

२—दे० ह० प्र० द्वि० कृत हि० सा० भू० पृ० ८१

३—'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'।

४—देखिए रामानुजाचार्य कृत 'वेदान्त-संग्रह,' वेदान्त सार, वेदान्त प्रदीप, गीता-भाष्य, ब्रह्मसूत्र-भाष्य आदि।

जितने भी पदार्थ हैं वे सब अचित् हैं और जीवात्मा चित् है। अचित् जड़ात्मक है, और उसके भी तीन भाग हैं :—(१) अन्य जलादि भोग्य वस्तु (२) भोजन पात्रादि भोगोपकरण, और (३) शरीरादि भोगायतन। ईश्वर विश्व का कर्त्ता और उपादान है। वह अपरिच्छिन्न ज्ञान स्वरूप है और सब जीवों का नियन्ता है। चित् और अचित् दोनों उसी प्रकार ईश्वर पर आश्रित हैं जिस प्रकार आत्मा पर शरीर। इसीलिए चित् और अचित् दोनों को ईश्वर का शरीर कहा गया है।—अर्थात् चित् और अचित् शरीर हैं ईश्वर शरीरी है। वे अंग है और ईश्वर अंगी है।[1] जिस प्रकार यह हस्त पदादि विशिष्ट भौतिक देह जीव का शरीर कहा जाता है उसी प्रकार अचित् और चित् पदार्थ अर्थात् जड़ और जीवात्मा दोनों को परमात्मा का शरीर कहा गया है। भववान के अनन्त गुण और दो प्रकार के रूप हैं, एक परमात्म-रूप अपना कारण रूप और दूसरा स्थूल अर्थात् विश्व रूप। यह परमात्म-रूप अपना कारण रूप ईश्वर सर्वनियन्ता और सर्वान्तर्यामी है इसलिए भववान को ईश्वर और सेव्य बतालाया गया है, तथा जीव को दास और सेवक। परमात्मरूप और विश्वरूप के अतिरिक्त भक्त वत्सल भगवान भक्तों के लिए समय-सयय पर अन्य पाँच प्रकार की मूर्तियाँ धारण किया करते हैं—अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामो।[2] प्रतिमादिक को अर्चा कहते हैं, मत्स्य, वराह, कूर्म आदि अवतारों का नाम विभव है, वासुदेव, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि व्यूह हैं; विरज, विशोक, विमृत्यु, विजीर्घत्स, सत्यकाम और सत्यंस कल्प (षड्गुणशाली) परब्रह्म का नाम सूरम है और सब जीवों की नियन्ता मूर्ति विशेष का नाम अन्तर्यामी है। भगवान की इन पाँच प्रकार की मूर्तियों की उपासना भी पाँच प्रकार की मानी गयी है।

उन पाँचों विधियों के नाम हैं (१) अभिगमन, (२) उपादान (३) इज्या, (४) स्वाध्याय और (५) योग। देवता के गृह और मार्ग की योजना तथा अन्नलेपनादि को अभिगमन कहते हैं, गन्ध पुष्पादि पूजा दृश्यों का आयोजन उपदान है, भगवान की पूजा का ही नाम इज्या है, अर्थबोध पूर्वक मंत्रजाप वैष्णव सूत्र और स्तोत्र का पाठ, नाम संकीर्तन और शास्त्राभ्यास को स्वाध्याय कहते है। ध्यान धारण और समाधि इत्यादि देवता को प्राप्ति के जो उपाय हैं उन्हें योग कहते हैं।[3]

१—तु० करिए 'Earth is Crowned with heaven and every common bush arise with good.

२—दे० सर्वदर्शन संग्रह

३—दे० सर्वदर्शन संग्रहान्तर्गत 'रामानुज दर्शन।'

आगे चलकर स्वामी रामानन्द जी हुये जिन्होंने रामानुज का उपर्युक्त तत्ववाद पूर्णरूप से स्वीकार करते हुये लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम की उपासना प्रचलित की। रामानन्द ने विष्णु के सब अवतारों में लोक-लीला विस्तार करने वाले राम-रूप को संसार के लिये सर्वाधिक मंगल-विधायक समझकर चुना, मनुष्य मात्र को राम की भक्तिका अधिकारी घोषित किया और राम की उपासना के क्षेत्र में वर्ण-भेद अथवा जाति-भेद आदि सब लौकिक प्रतिबन्धों का प्रत्याख्यान किया। जोलाहे कबीर, रैदास-चमार, धन्ना जाट और सेन नाई सभी उनके प्रधान शिष्यों में थे।[1] इस प्रकार उन्होंने राम-भक्ति का भारत व्यापी आंदोलन चलाया जिस के तरंगाघात से हिन्दू-जाति के बहुत से रूढ़ि बन्धन ढीले हुए। रामानन्द द्वारा प्रवर्तित राम की उपासना दास्य भाव की है। दास्य रस के सबमे बड़े रसिक, इसके चरम परम आश्रय रूप आलम्बन श्री हनुमान जी हैं। इसीलिए सीताराम की उपासना के साथ-साथ उनकी उपासना भी लोक में चल पड़ी। रामोपासना के अन्तर्गत लक्ष्मण और भरतादि जिन व्यूह मूर्तियों की चर्चा होती है उनमें दास्य स्वभाव के प्रति रस का ही उत्कर्ष प्रधानतया देखा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य श्री रामानुज ने लोक की दो पुरातन भाव-धाराओं के सामञ्जस्य विधान द्वारा विशिष्टाद्वैत दर्शन की प्रतिष्ठा की। रामानन्द ने राघव भक्ति के प्रचार द्वारा उसे सार्ववर्णिक और सर्वजन सुलभ प्रदान किया जो अत्यन्त लोकोपयोगी तथा व्यावहारिक सिद्ध हुआ।

रामानुज तथा रामानन्द के दर्शन और साधना की समस्त श्री और शक्ति गोस्वामी तुलसी दास जी के साहित्य में प्रस्फुटित हुई। गोस्वामी जी ने अप्रत्यक्ष रूप से दास्य भाव की भक्ति अथवा दास्य या प्रीति रति को ही भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन और भगवत्प्राप्ति का सुगमतम उपाय माना है उन्होंने स्पष्ट कहा है सेवक सेव्य भाव बिना संसार तरना असम्भव है।[2] रामचरित मानस में एक स्थल पर स्वयं भगवान इस बात की घोषणा करते हैं[3]:—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए।
सबतें अधिक मनुज मोहिं भाए॥

१—दे० नाभादास कृत भक्तमाल

२—'सेवक सेव्य भाव बिनु भवनतरिय उरगारि।'

३—रामायण उत्तर काण्ड।

तिन्ह मह द्विज-द्विज महँ श्रुतधारी।
तिन्ह मह निगम धर्म अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी।
ग्यानिहुँ ते अति प्रिय विज्ञानी॥
तिन्ह तें मोंहि पुनि प्रिय निज दासा।
जेहिं गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि-पुनि सत्य कहौं तोहिं पाहीं।
मोंहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

दास्य भाव से भजन करने वाले ऐसे सेवक निरन्तर भगवान के नाम[१] का जप, रूप का ध्यान[२], लीला का स्मरण[३] और धाम का सेवन करते हैं[४]। लीला का स्मरण दो प्रकार से हो सकता हैं। एक है भगवान राम की लोक मंगल विधायनी ललित लीलाओं का गान करने वाले ग्रन्थों के स्वाध्याय और श्रवण जिससे मन पवित्र होता है और जीव क्रमशः भगवत्प्राप्ति का अधिकारी बनता है। दूसरा प्रकार है भगवान को दिव्य जन्म और कर्म[५] सम्बन्धी लीलाओं का अनुकरण अथवा अभिनय। रास लीला और राम लीला दोनों ही अवतार[६] भेद से इस लीलाभिनय के दो रूप हैं। भगवान की जो चार प्रकार की माधुरी है उसमें से क्रीडा-माधुरी वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी की झलक रास लीला में मिलती है।[७] सख्य अथवा प्रेयरतिमयी गोप लीला क्रीडा

१—दे० रामचरित मानस के वाल काण्ड के अन्तर्गत नाम-बन्दना।

२—'लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दास जलधर अभिलाखे॥
निदरहिं सिन्धु सरित सर बारी।
रूप बिन्दु जल होंहि सुखारी॥ (रा०अयोध्याकाण्ड)

३—रामचरित चिन्तामनि चारू।
संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥
× × × ×
सेवक मन मानस मराल से।
पावन गंग तरंग माल से॥ (रा०वालकाण्ड)

४—चरन राम तीरथ चलि जाहीं।
राम बसहु तिन के मन माहीं॥ (रा० उत्तरकाण्ड)

५—'जन्म कर्म च में दिव्यम' (गीता)

६—दे० रामलीला का अंगद

७—भागवत् १०, ३५, १४-१५

माधुरी के अंतर्गत है और वेणु-माधुरी भगवान की अचिन्त्य और गुह्य निकुंजलीला का अंग है। राम लीला में और समस्त राम-साहित्य में भगवान की ऐश्वर्य-माधुरी के अनुभव और अभिव्यक्ति की ही प्रधानता है।

दास्य भाव की भक्ति का उत्कर्ष भगवान की ऐश्वर्य-माधुरी के अधिकाधिक बोध पर निर्भर है, इसीलिए इस श्रेणी के भक्त भगवान के क्षमावान, शरणागत वत्सल और करुणायतन रूप का ध्यान और चिन्तन प्रपत्ति के अभ्यास के लिए उसके द्वारा करते हैं। भगवान के एश्वर्य रूप का बोध उतना ही उत्कट होगा और ईश्वर रस की अनुभूति उतनी ही तीव्र होगी भक्त अपने हृदय में दैन्य का जितना अनुभव करेगा। ऐसे भक्त की दृष्टि भगवान की ऐहिक लीलाओं की ओर जा ही नहीं सकती और न इस भक्ति मार्ग में गुप्त अथवा रहस्य की प्रवृति को प्रश्रय मिल सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम को 'अलख' से अधिक 'लख' और अन्तर्यामी से अधिक बहिर्यामी बतलाया है।

"अंतर्जामिहु ने बड़ बाहिर जामि हैं राम जे नाम लिए ते।
पैज परे प्रहलादहु के प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिए तें ॥"[1]
अथवा "हम लखहमहिं हमार लख, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच ॥"[2]

इसीलिए राम से सम्बन्ध रखने वाले श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के काव्य में उन की सार्वजनिक जीवन लोकसंग्रही लीलाओं का ही प्राधान्य रहा, प्रेम श्रृंगार और विलास की गाथाओं के लिए अवकाश ही न निकल सका। और यही कारण है कि रामलीला में जो रामपरक दृश्य काव्य है उसमें कथानक वैचित्र्य और नए-नए प्रसंगों की उद्भावना का अभाव है। इस के विपरीत मधुर रसाश्रित रास लीला में ऐश्वर्यबोध का मधुर रस की परिपन्थी वृत्ति होने के कारण रास लीला में ऐश्वर्य बोध का अभाव है और भगवान की ऐहिक लीलाओं का प्राधान्य है। रास लीला और राम लीला का यह भेद भक्ति साधना के दो पन्थों की पृथकता का निर्देश करता है।

(२)

राम लीला की वर्त्तमान अभिनयात्मक परम्परा का प्रवर्तन कब और किस के द्वारा हुआ, इसका निर्णय करना कठिन है। प्रायः सारे देश में किसी न किसी रूप में राम लीला का प्रचार है। देश के बाहर बाली, जावा और

१—दे० तु० कवितावली उत्तरकाण्ड।
२—दे० तु० कृत दोहावली।

लंका आदि दीपों में भी अत्यन्त प्राचीन काल से इस का व्यापक प्रचार चला आ रहा है।[1] इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख भी मिलते हैं, जिन से सुदूर अतीत में भी लोकधर्मी और नाट्यधर्मी राम नाटकों की दोनों ही परम्पराओं के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। वैदिक काल में ही हमारी नाट्य-परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ था, इसका उल्लेख हो चुका है। यह परम्परा अखंडरूप से मुसलमानों के आने के पूर्व तक चलती रही, यह भी बतलाया जा चुका है। इस नाट्य-परम्परा के विकास में वैष्णव धर्म का प्रभाव मुख्य था। वैष्णव धर्म के बीज वेदों तक में वर्तमान हैं और उसका पूर्ण विकास महाभारत तथा गीता के काल तक हो गया था। वेद-काल और महाभारत काल के बीच वैष्णव धर्म द्वारा अनुप्राणित नाट्यप्रयोगों ने लौकिक और साहित्यिक दोनों ही प्रकार के अनेक रूप धारण किए होंगे ऐसा अनुमान किया जा सकता है। विष्णु के विविध अवतार चरितों का अभिनयात्मक प्रदर्शन होता था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण महाभाष्य में पतंजलि द्वारा 'कंसबध' और 'बालि-बध' नामक नाटकों का उल्लेख है, जिनका अभिनय शौभनिक या शौभिक कहलाने वाले नट सार्वजनिक स्थानों पर किया करते थे। हरिवंश में भी लिखा है कि जब प्रद्युम्न, साम्ब आदि यादव राजकुमार प्रभावती हरण के लिए दानवराज वज्रनाम के नगर में गए थे तब उन्होंने वहाँ राम-जन्म और रंभाभिसार नामक नाटकों का अभिनय किया था। इन उल्लेखों से यह तो सिद्ध ही है कि उस समय विष्णु के प्रधान अवतार राम तथा कृष्ण के चरित्रों का व्यापक अभिनय होता था। राम और कृष्ण के चरित्रों से सम्बद्ध नाटक बहुत प्राचीन काल से लिखे जा रहे हैं। कालिदास से भी प्राचीन माने जाने वाले महाकवि भास रचित बाल-चरित नामक नाटक कृष्ण के बाल चरित से सम्बद्ध है।

उनके प्रतिमा नाटक में राम-वनवास तथा सीता-हरण से लगा कर रावण-वध तक की घटनाओं का समावेश है और अभिषेक का वर्णन है। इन दोनों नाटकों में बाल काण्ड के अतिरिक्त रामायण के अन्य सभी काण्डों के कथानक का समावेश है। ७०० ई० के लगभग भवभूति के महावीर चरित और उत्तर-रामचरित में सीता-वनवास से पुनर्मिलन तक की कथा है। भवभूति के नाटक उज्जैन में भगवान कलाप्रिय के मंदिर में अभिनीति भी

१—बाली और जावा के राम-रावण युद्ध तथा बाली-सुग्रीव युद्ध सम्बन्धी नृत्य नाटक प्रसिद्ध हैं।

हुए थे। अष्टम शदी के उत्तरार्द्ध में मुरारि ने 'अनर्घ राघव' नामक नाटक लिखा था जिस मे विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए राम के वन-गमन से लगा कर रावणबधापरांत राम के राज्याभिषेक तक की कथा है। दशम शदी के पूर्वार्द्ध में राजशेखर ने बाल रामायण नामक नाटक लिखा जिसका अभिनय भी कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल की आज्ञासे हुआ था। चौदहवीं सदी के लगभग जयदेवने "प्रसन्न राघव" नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखा जिसमें राम के चरित्र का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-नाटक के ह्रासकाल में भी राम-कथा संबंधी अनेक नाटक लिखे जाते रहे। रामभद्र दीक्षित ने १६ वीं शदी में 'जानकी परिणय' नामक नाटक लिखा था और इन्हीं के समकालीन महादेव ने 'अद्भुत दर्पण' लिखा जिसमें अंगद के दौत्य से राम के राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। दशम शदी के लगभग शक्ति भद्र नामक केरल देश निवासी कवि ने 'आचार्य चूणामणि' लिखा जो सात अंकों में राम कथा सम्बन्धी आश्चर्य रस प्रधान नाटक है। ११ वीं या १२ वीं शदी के आस-पास वीरनाग अथवा दिङ्‌नाग नामक किन्हीं कवि ने 'कुन्दमाला' नामक नाटक लिखा। इसमें भी रामायण की ही कथा है और इस पर भवभूति के उत्तर रामचरित का विशेष प्रभाव है। मधुसूदन मिश्र विरचित ९-१० अंकों का हनुमन्नाटक और दामोदर मिश्र कृत १४ अंकों का उसी नाम का महानाटक भी राम चरित सम्बन्धी अर्द्ध नाटकीय प्रयोग है। कवि मयूरज के उदात्तराघव के कथानक का आधार भी रामायण ही है। १३ वीं शदी में सुभट कवि ने 'दूदाङ्गद' नामक एक छाया नाटक लिखा जिस का अभिनय १२४३ ई० में आशाहिल पट्टन के चालुक्य राजा त्रिभुवन पाल के सभा में हुआ था। इसमें राम के दूत बन कर अंगद के लंका जाने की कथा है।

१५ वीं शदी में रायपुर के कलचुरि नरेशों के राजकवि व्यास श्री रामदेव लिखित तीन नाटकों में, जो छाया नाटक बतलाए गए हैं 'रामाभ्युदय' भी है जिसमें लंका-विजय, सीताकी अग्नि-परीक्षा और राम के अयोध्या लौटने की कथा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत में राम नाटकों की यह साहित्यिक परंपरा ईसा के पूर्व से प्रारम्भ हो कर प्राय: १७ वीं शदी तक अविच्छिन्न रूपसे चलती रही। इस सम्बन्ध में ध्यान देनें की बात यह है कि ये राम नाटक भिन्न-भिन्न समयों मे तो लिखे ही गए। कान्यकुब्ज, विहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, गुजरात, केरल आदि सभी प्रान्तों के कवियो ने इन की रचना में योग दिया इससे यह सिद्ध है इस महादेश के विभन्न प्रान्तों में रामचरित का अभिनय अनेक रूपों

में निरन्तर लोकप्रिय रहा। साधारण नाटकों से लगा कर छाया नाटक तक में राम के जीवन की विविध घटनाओं का प्रदर्शन होता रहा। यहाँ तक कि कठपुतलियों के खेल के भी अधिकांश कथानक रामायण से[1] ही लिए जाते रहे हैं। ई० पी० हारविज ने लिखा है:—

"The Hindus never seem to tire of a story told of the saintly Rama. The Nepalese theatre in the north is known to have produced Rama plays as early as the fourteenth century of our era. The Tamil theatre in the south has shown itself no less partial to the Ramayana..........Hoards of Indian dramas are derived from the Ramayana."[2]

"अर्थात् हिन्दू साधुशील राम की कथा से कभी तृप्त ही नहीं होते। उत्तर में नेपाली रंगमंच पर १४ वीं शदी में ही राम नाटकों का अभिनय प्रारम्भ हो गया था। दक्षिण में तामिल रंगशाला में भी रामायण के प्रति कम अनुराग नहीं रहा ....सैकड़ों भारतीय नाटकों का उद्गम रामायण से ही हुआ है।"

राम नाटकों की इस निखिल देशव्यापी अति प्राचीन साहित्यक परम्परा को देखते हुए यह मान लेना कठिन नही है कि राम चरित्र के अभिनय की लौकिक अथवा लोक धर्मी परम्परा भी देश भर में सर्वत्र सर्वसाधरण के बीच इस से बहुत पहले से नहीं तो कम से कम समानान्तर अवश्य चलती रही होगी।

राम चरित्र के अभिनय की यही लोक धर्मी परम्परा भी देश भर में राम चरित्र के अभिनय की लौकिक अथवा लोक धर्मी परम्परा, आज राम लीला के नाम से विख्यात है। रामलीला राम की ही भक्ति के समान व्यापक तथा प्राचीन है। "हिमालय के गर्भ से गंगा के उद्गम का समय बता सकना जितना कठिन है उतना ही कठिन राम लीला प्राक्टच का काल बताना है।" राम के भक्त तो राम लीला की इस परम्परा को अनादि कहते है, उनके अनुसार हिन्दू धर्म के अनादि राम की अनादि लीला की यह अभिनयात्मक परम्परा भी अनादि ही है। इन भावुक भक्तों के बीच एक किंवदन्ती प्रचलित है कि त्रेता युग में जब राम पिता की आज्ञा से वन को चले गये थे, तो अयोध्या के उनके परिजन, पुरजन और प्रजाजनों ने राम के बाल चरित्रों का अनुकरण और

---

१. दे० ई० पी० हारविज रचित इण्डियन थियेटर्स पृ० १५४–१५९:—

"....... As a rule the subject is taken from the traditional of the two national epics."

२. दे० ई० पी० हारविज कृत इण्डियन थियेटर्स पृ० १४०–४१

अभिनय करते हुए चौदह वर्ष के विषम वियोग के दिवस काटे थे। यहीं से राम लीला की अभिनयात्मक परम्परा का आविर्भाव और विकास हुआ, इन लोगों का ऐसा विश्वास है। ऐसी ही कथा श्रीमद्भागवत के अंतर्गत रास पंचाध्यायी में है। गोपियों के विहार करते श्रीकृष्ण जब अन्तर्ध्यान हो गये तो वे उनके दुःसह वियोग का ताप शमन करने के लिए उन के बाल और कैशोर चरित्रों का परस्पर अनुकरण करने लगीं। ऐसी किंवदन्तियो और विश्वासों से रामलीला और रासलीला की प्रागैतिहासिक प्राचीनता ही ध्वनित होती है।

यद्यपि रामलीला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, फिर भी समय-समय पर परिस्थितियों और विशिष्ट व्यक्तियों के प्रभाव से उसके वाह्य रूप और कौशल्या आदि में कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहे। आज हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में राम लीला जिस रूप में प्रचलित है, उसके प्रवर्तक और निर्माता गोस्वामी तुलसीदास जी माने जाते हैं। गोस्वामी जी के प्रधान कार्य-क्षेत्र काशी तथा अयोध्या रहे। अयोध्या में उन्होंने रामचरित मानस का प्रारम्भ किया और काशी में उसकी समाप्ति। इन्हीं दोनों स्थानों पर गोस्वामी जी ने राम लीला भी चलाई, इस आशय की अनेक जन श्रुतियाँ प्रायः समस्त अवध और काशी खंड में प्रचलित है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि गोस्वामी जी को राम लीला-प्रवर्त्तक मानने के सम्बन्ध में रास लीला की तरह जनश्रुतियों मे किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। सब जन श्रुतियाँ एकमत से काशी और अयोध्या दोनों स्थानों पर गोस्वामी जी को ही राम लीला के प्रचलन का श्रेय प्रदान करती है। काशी में गोस्वामी जी की चलायी हुई राम लीला अभी तक चली आ रही है। यह आश्विन मास में होती है और इसका भरत-मिलाप बहुत प्रसिद्ध है।

काशी में रामयण के जिस प्रसंग का जिस स्थान विशेष पर अभिनय होता था, गोस्वामी जी ने तदनुरूप उस का नामकरण कर भी दिया था, वे सब नाम आज भी चले आ रहे हैं और उन में से बहुत से—जैसे लंका आदि—तो काशी के मुहल्ले के नाम बन गए हैं। इसी प्रकार अयोध्या में उन्होंने चैत्र मास में राम लीला चलाई थी तथा काशी की तरह वहाँ भी विभिन्न अभिनय स्थलों को घटना और प्रसंग के अनुरूप नाम प्रदान किए थे। अयोध्या की राम लीला की यह परम्परा अब लुप्त हो गयी है, केवल गोस्वामी जी के दिए हुए अभिनय स्थलों के नाम अभी तक चले आ रहे हैं। अयोध्या के वृद्ध इन का परिचय अनुसंधित्सु को कराते हैं। बहुत खोज करने पर भी इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चला कि अयोध्या की गोस्वामी जी की चलाई हुई राम लीला की परम्परा

कब तक चलती रही और फिर वह किस समय और किन कारणों से लुप्त हो गयी। आजकल अयोध्या में अनेक रामलीलायें आश्विन मास में होती हैं। पर उन में से कोई भी वहुत प्राचीन नहीं। सब सौ वर्ष के इधर की ही हैं। अयोध्या की सबसे पुरानी अभिनय-परम्परा अगहन में होने वाले राम-विवाह अथवा धनुषयज्ञ की है। यह गोस्वामी श्री रामप्रसाद जी महाराज ने जो अयोध्या के एक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं, चलाई थी। गोस्वामी श्री राम प्रसाद जी महाराज ने सं० १७६० वि० के लगभग एक गद्दी की स्थापना की थी जो अब बड़ी जगह के नाम से ख्यात है। अयोध्या के सब पुराने तथा जानकार लोगों ने तथा स्वयं बड़ी जगह के महन्त जी ने मुझे यह बतलाया कि उन के यहाँ राम-विवाह का अभिनय अविच्छिन्न रूप से गोस्वामी रामप्रसाद जो के समय से होता चला आ रहा है। इस प्रकार धनुषयज्ञ की यह परम्परा दो सौ वर्ष से भी कुछ पुरानी प्रतीत होती है।

गोस्वामो जी काशी की राम लीला आश्विन मास में विजया दशमी के अवसर पर करवाते थे, और अयोध्या में चैत्रमास में राम के जन्म महोत्सव के उपलक्ष्य में उस का आयोजन करते थे। अयोध्या में गोस्वामो जी प्रतिवर्ष रामनवमी के अवसर पर राम लीला की व्यवस्था के लिये पधारते थे और कहा जाता है उनके साथ काशी के प्रसिद्ध मेघा भगत[1] भी आया करते थे। राम लीला जिस स्थान से आरम्भ होती थी उसे आजकल तुलसी चबूतरा कहते हैं इसी स्थान पर गोस्वामी जी ने रामायण की रचना भी प्रारम्भ की थी।

काशी और अयोध्या की राम लीला के समय में अंतर होने से गोस्वामी जी को दोनों में सम्मिलित होने तथा दोनों की समुचित व्यवस्था करने की सुविधा तथा अवकाश रहता होगा, परन्तु इस का मुख्य उद्देश्य तो कदाचित यह होगा कि राम जीवन की दो महत्त्वपूर्ण घटनाओं—उनका जन्म और रावण-वध की स्मृति सार्वजनिक रूप में सम्यक सुरक्षित रहे। आजकल भी राम लीला के ये ही दोनों समय हैं। उत्तर प्रदेश के अधिक भागों में राम लीला आश्विन में होती है और राजपूताना, मालवा आदि में वह चैत्र मास में होती है। इस प्रकार राम लीला के समय पर तो गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रभाव स्पष्ट है।

यदि हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि रामलीला का समय निश्चित करने के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने कोई बात नहीं की वरन् उन्हों ने एक पुरानी चली आती हुई परम्परा को ही ग्रहण कर उसे पुनर्जीवित किया तो भी हिन्दी-भाषा-भाषी प्रांतों में रामलीला की प्रचलित परिपाटी पर अनेक रूपों में

१—दे० भक्तमाल प्रियादास जी की टीका।

गोस्वामी जी का कह देने में किसी प्रकार की वाधा अथवा कठिनाई का अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि आज बहुत से लोग गोस्वामी जी को ही राम लीला का आदि प्रवर्त्तक माने बैठे हैं। यह बताया जा चुका है कि राम लीला की परम्परा कितनी प्रचीन है। एक उल्लेख यह भी मिलता है कि गोस्वामी जी राम लीला प्रारम्भ होने से पूर्व काशी में मेघा[1] भगत की राम लीला होती थी। ऐसा अनुमान हो सकता है कि विपरीत परिस्थितियों से आक्रान्त हो कर रामलीला की यह अभिनय-परम्परा भी कालान्तर में ह्रासोन्मुख और विरल हो गयी हो और मेघा भगत सरीखे साधु सन्त उसे काशी जैसे स्थानों में ज्योंत्यों चलाते चले आ रहे हों। इसी का गोस्वामी जी ने उद्धार किया और नए सिरे से उस में प्राण प्रतिष्ठा की। अतएव गोस्वामी जी यदि राम लीला के आदि प्रवर्त्तक नहीं तो उसके स्वरूप के नवीन निर्माता तथा उद्धारक तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हैं। गोस्वामी जी जैसा महान् कवि और परिपूर्ण कलाकार रामपरक श्रव्य काव्य को रामचरित मानस में चरम उत्कर्ष पहुँचा कर तत्सम्बन्धी दृश्य-काव्य राम लीला की उपेक्षा करता यह सम्भव भी नहीं था।

राम लीला में मूक अभिनय (dumb shows) का भी योग रहता है। ई० पी० हारविज[2] ने लिखा है:—"The people of India look upon dumb shows with as much favour as the English do on Christmas Santomines.

अर्थात् भारतीय मूक अभिनय को उतना ही पसन्द करते हैं—जितना अँगरेज बड़े दिन के अवसर होने वाले स्वाँगों को। हारविज विशप हेबर ने विवरण का हवाला देते हुए लिखा है :—"

"Bishop Heber describes the "Seize of Lanka as he saw it performed at the Ram Lila festival in Allahabad. Ravana's palace was constructed of bomboo reeds, and decorated with coloured papers. Doors and windows were gaily painted and a frightful paper giant stood on the roof of the building. The ogre was fifteen feet high, and had twelve arms with some kind of weapon in each.

१—दे० ना० प्र० सभा काशी से प्रकाशित रामचरित मानस की भूमिका।

२—इण्डियन थियेटर पृ० १५८ ई० पी० हारविज।

At the feet sat little girl meant to be Sita, two green dragons made of inflated bladder were guarding the prisoners. The little mite was wrapped in a gorgeous veil, and must have felt very tired for she drooped her curly head and was soon fast asleep. Hanuman having a monkey's mask pulled over his ears was capering and gambolling outside the City gates. He had a long bushy tale and his skin was dyed with indigo."

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि राम लीला में मूक अभिनय का स्थान बड़ा प्रमुख रहता है, पर रास लीला में उसकी योजना के लिए अल्पातिअल्प अवकाश रहता है। राम लीला का रंगमंच जितना विराट और उन्मुक्त है, रास लीलाका उतना ही लघु और सीमित। पर रास लीला की ही तरह राम लीला की भी विशिष्ट अभिनय-प्रविधि का स्वतन्त्र विकास हुआ है और उसने भी एक सीमा तक हिन्दी-नाटच-परम्परा को प्रभावित किया है। राम लीला के प्रारम्भ में पूर्वरंग की एक निश्चित विधि का पालन किया जाता है, जो स्थान भेद से प्रकार भेद भी देखा जाता है। कहीं यह लीला भगवान् के मुकुटों के पूजन से आरंभ होती है और कहीं इसी प्रकार के अन्य कर्मकाण्ड से। राम लीला की प्रविधि का निरूपण करने वाले जो कतिपय ग्रन्थ मिलते हैं, उनके पात्रों के चुनाव-संबंधी निर्देश दिये गये हैं। पात्रों के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वे सब चतुर और उच्च स्वर से बोलने वाले हों। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न सब कुमार अवस्था के और चतुर हों। सीता कुमारी और कोमल प्रकृति की हों, शूर्पणखा पतली लम्बे डील की चतुर और परशुराम तीक्ष्ण प्रकृति के हों। इसी प्रकार राम लीला की रंगमंचीय व्यवस्था और पात्रों की वेशभूषा के विषय में भी विस्तृत निर्देश प्राप्त होते हैं। आनंद रामायण में राम लीला के विधान का सविस्तार विवेचन प्राप्त होता है।

राम लीला के अभिनय का आधार रामचरित मानस है। लीलाभिनय करने वाले पात्र रामचरित मानस की चौपाइयों को कंठ कर लेते हैं और कथोपकथनों में प्रायः उन्हीं का प्रयोग करते हैं। यदि उन्हें चौपाइयाँ कंठ नहीं होती, तो सूत्रधार उनको पढ़ते हैं, और अभिनेतागण उनका भाव अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं। राम लीला के रंगमंच और प्रेक्षागृह का निर्माण किसी मैदान में बाड़ा बाँध कर किया जाता है, लीलाभिनय में भाग लेने वाले पात्र

इसी में घूम-घूम कर लीला करते हैं। वे थोड़ी-थोड़ी दूर चलकर खड़े होकर अपना पाठ्य प्रस्तुत करते हैं।

जिस प्रकार रास लीला की प्रविधि ने हिन्दी-साहित्य पर अपना प्रभाव डाला है, उसी प्रकार राम लीला का भी प्रभाव पड़ा है। भक्ति काल के अंतर्गत संभवतः राम लीला की अभिनय एवं रंगमंच की परम्परा को ध्यान में रख कर ही रामायण महानाटक लिखा और हृदयराम ने हनुमन्नाटक की रचना की। रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह ने रीतिकाल के अंतर्गत हिन्दी का प्रथम नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' लिखा। यह नाटक भी राम लीला कीं अभिनय परम्परा से प्रभावित है। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शती में भी कई राम लीला-नाटक लिखे गये। इनमें उदय कवि-कृत हनुमान नाटक, राम करुना (लक्ष्मण संग्राम नाटक) नाटक और अहिरावन लीला, हरिराय का जानकी-रामचरित, लक्ष्मण शरण 'मधुकर' का राम लीला बिहार विशेष उल्लेखनीय है। आगे चल कर भारतेन्दु ने इस नाट्य-परंपरा की अंतर्निहित वास्तविक शक्ति का भी सक्षात्कार किया और उन्होंने काशी की प्रसिद्ध राम लीला के लिए सरस पाठ्य का प्रणयन किया। भारतेन्दु जी के सहयोगियों ने भी रामलीला नाटकों की परम्परा का समुचित साहित्यिक उपयोग किया। इस दृष्टि से 'प्रेमघन' के प्रयाग-रामागमन नाटक का स्थान विशिष्ट है। प्रसिद्ध प्रदर्शनी के अवसर पर इसका अभिनय भी प्रयाग के सांस्कृतिक इतिहास में अमर हो गया है। इस युग में राम लीला नाटकों की परंपरा को पुरस्सर करने वालों में 'जानकी मंगल' और 'रामचरितावली' के रचयिता ईश्वरी प्रसाद 'राम लीला रूपक' के प्रणेता दामोदर शास्त्री, 'राम लीला नाटक' और 'सीता वनवास' के लेखक श्री ज्वाला प्रसाद मिश्र का नाम भी स्मरणीय है। पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अपने राम लीला नाटक को अंकों और दृश्यों में विभाजित न कर उसे दर्शनों में बाँटा है। इस नाटक में बाल काण्ड की कथा को ग्यारह दर्शनों में विभाजित किया गया है और अयोध्याकाण्ड की कथा दस दर्शनों में विभक्त है। अन्य काण्डों की कथा भी इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न संख्या वाले दर्शनों में बँटी है। श्रद्धालु लेखकों ने दृश्यों के नामकरण में इसी पद्धति का अवलम्बन किया है। इस परम्परा के अन्य नाटकों में राम लीला सहायक बृहद्रामयश दर्पण नाटक तथा राम लीला कौमुदी आदि परिवर्ती काल की विशिष्ट रचनाएँ हैं।

राम लीला-नाटकों को इस परंपरा का अनुशीलन करने के पश्चात् यह प्रश्न मन में स्वाभाविक रूप से उठता है कि इस परंपरा में रास लीला की शैली को परम गुह्य मानी जाने वाली निकुंज लीलाओं का

प्रणयन हुआ अथवा नहीं ? अब तो यह भी सिद्ध हो गया है कि रामभक्ति में भी रसिक संप्रदाय उतना ही पुराना है, जितना कि कृष्ण भक्ति के अंतर्गत। राम भक्ति के क्षेत्र में रसिक-साधना की धारा का विस्तार भी कृष्ण भक्ति-क्षेत्र की अपेक्षा कम नहीं है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने लिखा है—"अति प्राचीन काल से ही श्रीराम की उपासना चली आ रही थी, किन्तु उसका विशेष विकास आठवीं शताब्दी ईसवी के पश्चात् हुआ। शठकोय वम्मल वार से लेकर श्रीकृष्णदास पयहमी पर्यन्त श्रीरामचन्द्र जी की उपासना के विषय में जिस साहित्य की रचना हुई थी, उसमें रसिक भावना की स्पष्ट छाप विभिन्न स्थलों में दिखाई देती है। इतस्ततः बिखरे रहने पर भी यह समस्त वाङ्मय एक अप्रकाशित गुह्य साधना का अंगीभूत है।" कुछ विद्वानों का कहना है कि स्वयं गोस्वामी तुलसीदास जी भी मधुर भाव के साधक थे। 'गीतावली में शृंगार के कई ऐसे पद हैं जो सिद्ध करते हैं कि गोस्वामी जी का बाह्य (साधक) रूप मर्यादावादी दास्य भाव का था, परन्तु आंतरिक गुह्य (सिद्ध) रूप लीला विलासी सखी भाव का था।'[1] ऐसी स्थिति में राम की रागमयी भक्ति का साहित्य के श्रव्य और दृश्य दोनों ही रूपों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। डा० भगवती प्रसाद सिंह[2] का कहना है कि "रसिक राम भक्तों की एक अन्य उल्लेखनीय देन है राम की शृंगारी लीलाओं के प्रदर्शन का विकास। तुलसी के समकालीन, नाभादास के 'भक्तमाल' से ज्ञात होता है कि उस समय अथवा उसके कुछ पहले से समाज में रामचरित का प्रदर्शन भिन्न-भिन्न रूपों में चला आ रहा था। मानदास ने नाटक के रूप में तथा मुरारि दास और प्रयाग दास ने रासक के रूप में रामचरित मानस दिखाया था। स्वयं तुलसीदास ने "रामचरित मानस" के आधार पर काशी में सम्पूर्ण राम लीला और जैरामपुर (सीतापुर) में राम विवाह लीला का प्रदर्शन कराया था, ऐसी किंवदंती प्रसिद्ध है। इन लीलाओं के आयोजन में उन्हें रसिक रामभक्तों से प्रेरणा मिली हो तो कोई आश्चर्य नहीं।" कम से कम मार्गशीर्ष मास में होने वाली राम विवाह लीला की परंपरा निश्चय ही रसिक संप्रदाय की देन है।

फिर राम भक्ति में शृंगारी लीलाओं के प्रदर्शन ने कभी-कभी वह अवांछनीय रूप नहीं ग्रहण किया जो कृष्ण भक्ति की मधुर उपासनापरक निकुंज

१—भुवनेश्वर माधव कृत 'राम भक्ति साधना में मधुर उपासना' पृ० ११७।

२—राम भक्ति में रसिक संप्रदाय—पृ० ५५१।

लीलाओं में देखा गया। इसका प्रमुख कारण गोस्वामी तुलसीदास जी के कठोर मर्यादावादी व्यक्तित्व की परम सात्विक प्रेरणा ही है। इसके अतिरिक्त उपासना के आचार्यों ने भी रागमयी भक्ति को 'परम गोपनीय' घोषित किया—'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं च सर्वदा।' इन आचार्यों ने इस साधना-सिद्धान्त और साहित्य का लाक-प्रचार भी सर्वथा वर्जित कर दिया। इसलिए इस उपासना का समाज पर अपेक्षाकृत कम अहितकर प्रभाव पड़ा।

५

मध्यकाल की नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ

पूर्ववर्ती अध्यायों में जो कुछ कहा जा चुका है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नाटच-परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही है। हम देख चुके हैं कि संस्कृत-नाटक की जो समृद्ध परम्परा विदेशी आक्रान्ताओं से आघात पाकर क्षत-विक्षत हो गई थी, अपितु ह्रास को प्राप्त होकर भी वह विभिन्न प्रकार की नाटकीय प्रवृत्तियों में उठ खड़ी हुई, और जनता का पथ-प्रदर्शन तथा अनुरंजन करती हुई आगे बढ़ती गई। इस प्रकार हिन्दी के नाटक वस्तुत: उस धारा के अन्तर्गत है, जिसका प्रारम्भ ऋग्वेद के श्येन-सूक्त पुरूरवा-उर्वशी आदि संवाद-सूक्तों में हुआ, और जो सुपर्णाध्याय जैसे रूपों को प्राप्त होती हुई संस्कृत-नाटक के विकास और ह्रास के बीच से अविरल प्रवाहित हो रही है। वैदिक संवाद-सूक्तों में उपलब्ध वीरगाथात्मक परम्परा भी रामायण, महाभारत आदि के पाठ अथवा शौभिकों के मूक-अभिनय तथा ग्रांथिकों के प्रदर्शन के मध्य से होती हुई मूक अभिनय छद्म, अभिनय, झांकी, कथावाचन काव्यात्मक संवाद आदि अनेक प्रकारों के द्वारा होने वाली राम और प्रवासी कृष्ण की लीलाओं के रूप में आज भी आगे पाई जाती है। इसी प्रकार लब-सूक्त माया-भेद सूक्त, अक्ष-सूक्त, यम-यमी संवाद आदि में पाई जाने वाली रहस्यवादी तथा आध्यात्मिक नाटच परम्परा में जो प्रवृति दिखाई देती है, उसी को हम अशोक कालीन ज्योतिष्कंधादि नाटकीय प्रयोगों में होते हुये कृष्ण रास की योग पीठ निकुंज, गोष्ठ, तथा नंद-भवन की लीलाओं के रूप में वर्तमान पाते हैं। इनके अतिरिक्त आधुनिक स्वाँग, सँपेरा, नौटंकी, तमाशा, सांगीत, नकल आदि भिन्न-भिन्न नामों से व्यवहृत होने वाले तथा जन-साधारण का मनोरंजन करने वाले नाटकीय प्रयोगों में जो परम्परा मिलती है, उसका भी पूर्व रूप अवश्य था। मेरा विचार है कि वैदिक काल से लेकर रामायण महाभारत काल तक पाये जाने वाले सूत, शैलूष, कामसूत्र आदि में वर्णित कुशीलवों तथा हर्ष के समय युवक बाण को आकृष्ट करने वाले ग्रामीण अभिनेताओं द्वारा पोषित नाटच परम्परा अपने शुद्ध लौकिक रूप में पंडित मंडली के बाहर ग्रामीण जनता के बीच पनपती हुई उपर्युक्त नाटच-प्रयोगों के रूप में प्रकट हुई।

परन्तु कुछ लोगों के मतानुसार भारतवर्ष की प्राचीन नाटच परंपरा एक बार समाप्त हो गई थी, और हिन्दी-नाटक की उत्पत्ति एक नये सिरे से हुई।

उन लोगों का यह भी मत है कि राम लीला, रास लीला तथा पुरानी गीति नाट्यकी परम्परा ने हिन्दी-नाटक के उद्भव और विकास में कोई योग नहीं दिया। ऐसे मत इस भ्रमात्मक धारणा पर अवलंबित हैं कि जो नाटक पाश्चात्य नाटकों की शैली पर न लिखा जाय, वह नाटक ही नहीं है। पहले के प्रकरणों में लिखा जा चुका है कि भारतीय नाट्य परम्परा ने वैष्णव धर्म की प्रेरणा और शक्ति प्राप्त कर मध्यकाल में एक नया ही रूप प्राप्त किया। इस काल में अभिनय और रंगमंच की कतिपय विशिष्ट रूढ़ियों एवं परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ, जो थोड़े ही दिनों में सामाजिक जीवन में बद्धमूल हो गई। डा० दशरथ ओझा ने १५वीं शताब्दी में नाटक के नव्योत्थान का विवरण प्रस्तुत करते हुए ठीक ही लिखा है कि "............उद्भट विद्वान महात्मा संस्कृत और लोक प्रचलित नाट्य-पद्धतियों के मिश्रण से एक अभिनव नाट्य-शैली का प्रयोग कर रहे थे और उन्होंने देवालयों को केन्द्र बनाकर संस्कृत-मिश्रित हिन्दी के माध्यम से वैष्णव धर्म का परिज्ञान कराया। इस युग में वैष्णव धर्म का सर्वत्र प्रचार हो रहा था। समस्त उत्तर और दक्षिण भारत वैष्णव-भक्तों के मधुर गीतों से गुंजरित हो रहा था। इन गेय पदों को गा कर तथा रंगशाला में इन्हें अभिनेय बनाकर कविगण वैष्णव धर्म का प्रसार करते। ये संत महात्मा रामकृष्ण, ध्रुव प्रहलाद आदि विविध अवतारों की लीलाएँ नाटक के रूप में जनता के सम्मुख प्रदर्शित करते।" परंतु जो लोग अपने नाटक के इस नव्योत्थान का ज्ञान नहीं रखते, उनकी दृष्टि में वह विशाल नाट्य-साहित्य जो लीलाओं और चरित्रों के रूप में हमारे अभिनय और रंगमंच की तत्कालीन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता चला आया है, नाटक नहीं रह जाता। मध्यकालीन हिंदी नाटक के कतिपय समीक्षकों ने ऐसी हास्यास्पद धारणा भी बना ली है कि जिस ग्रंथ के नाम में 'नाटक' शब्द न हो, वह नाटक ही नहीं, और जिसमें 'नाटक' शब्द हो, वह वस्तुतः 'नाटक' न होने पर भी नाटक ही है। ऐसे ही विद्वानों ने 'नाटक समयसार' जैसे शुद्ध दर्शन के ग्रंथ को जिसके नाम में नाटक शब्द एक उपलक्षण मात्र है, एक उल्लेखनीय नाटक या 'नाटकीय-काव्य' माना है।

रासकों के प्रसंग में बताया गया है कि आदि काल में पुराने अनेक दृश्यकाव्यों और नाट्य प्रयोगों में प्रबंधात्मकता आ गई थी। ठीक इसके विपरीत हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में श्रव्यकाव्यों में व्यापक रूप से नाट्य-प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने के प्रमाण मिलते हैं। रामचरितमानस और राम-चन्द्रिका आदि में नाट्य-विधान के जो अनेक उपादान पाए जाते हैं, वे इसके प्रमाण हैं। भक्तिकालीन साहित्य ने विशेष रूप से बहुमुखी नाट्य-प्रवृत्तियों को आत्मसात करने का मार्ग प्रशस्त किया था। यह इस युग की एक अत्यंत

महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है कि 'रामचरितमानस' जनता के लिए जितना महान् श्रव्यकाव्य है, उतना ही सफल दृश्यकाव्य भी। फिर भी यह बड़े दुःख की बात है कि कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि संतों की मुक्तक रचना और भक्त-कवियों के 'भक्ति के आत्म-समर्पण वाले संदेश' के कारण मध्यकाल में नाट्य-प्रवृत्ति को धक्का लगा।[1] इस कटु सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मध्यकाल में भारतीय नाटक की नाट्यधर्मी परंपरा के क्षतिग्रस्त होने के दो मुख्य कारण थे—एक तो राज प्रासादों और देवालयों से संलग्न हमारे रंगमंचों का सामूहिक ध्वंस, और दूसरे 'मुसलमानी युग में, मुसलमानी शासन में, नाट्य-प्रवृत्ति इसलिए नहीं जग पाई कि उनके धर्म के भीतर नाटक खेलना अपराध था। उनके श्रव्यकाव्य में भी नाटकीय प्रवृत्तियाँ नहीं हैं'। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी का यह कथन यथार्थ है कि 'भारतीय नाट्य इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो कर साहित्य और जीवन में पड़ा हुआ था। पुराने नाटकों के लिखने की प्रवृत्ति जगाने के लिए प्रेरणा मिलती ही न थी। रंगमंच भी न थे जिन पर वे खेले जाते।'

इसीलिए मध्यकाल में साहित्य-रचना के क्षेत्र में एक विचित्र, असंगति के दर्शन होते हैं। वह यह कि भारतीय परंपरा में निष्णात कवियों के श्रव्य काव्य में नाटकीय विधान की अनेक विशेषतायें मिलती है, पर 'नाटक' नाम से जिन रचनाओं का प्रणयन हुआ हैं उनमें नाटकीय तत्त्वों का अभाव-ही-अभाव पाया जाता है। उनमें से अधिकांश में नाटकीयता की अपेक्षा काव्यात्मकता ही अधिक है। इस के मुख्य कारण का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसका दूसरा कारण यह है कि जब ८०० ई० के लगभग हिंदी ने साहित्यिक रूप ग्रहण किया, उस समय संस्कृत-नाटक की उदात्त परंपरा भी ह्रासोन्मुख हो चली थी। इस काल के कई शताब्दियों बाद तक संस्कृत-नाटकों की रचना तो बहुत बड़ी संख्या में होती रही, पर उनका क्षेत्र संकुचित हो गया था और उनमें भी नाटकीयता की अपेक्षा काव्यात्मकता ही अधिक होने लगी थी। इसीलिए हिंदी के जिन लेखकों ने लीला और चरित्रों की सीमा के बाहर सीधे-सीधे नाटक लिखने का उपक्रम किया, उन्होंने उक्त ह्रासकालीन संस्कृत-नाटकों की परंपरा के ही कुछ गुण विरासत में पाये। इस काल की 'नाटक' नामधारी कृतियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस काल में 'नाटक समय सार' जैसी कृतियों की रचना भी हुई जो शुद्ध दर्शन का ग्रंथ है और जिसमें 'नाटक' शब्द एक उप-

1. दे० डा० सोमनाथ गुप्त कृत 'हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास' पृ० २६

लक्ष्य मात्र है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है 'नाटक संवाद मुख्य होता है। उसका सारा ढाँचा संवाद में होता है। मध्यकाल में संवाद नाटक का स्थानापन्न हो गया।' किन्तु 'नाटक समयसार' में यह संवाद वाली विशेषता भी नहीं मिलती। उसके नाटक नाम से अभिहित होने का कारण है 'इस हृदय में अनादिकाल से मिथ्यात्व रूप महाअज्ञान की विस्तृत नाट्यशाला में पुद्गल के बड़े भारी नाच' का वर्णन। वह वर्णन भी कैसा ?

या घट में भ्रम रूप अनादि,
विशाल महा अविवेक अखारौ।
तामहि और स्वरूप न दीसत,
पुग्गल नृत्य करै अति भारौ।
फेरत भेख दिखावत कौतुक,
सौंजि लियै वरनादि पसारौ।
मोह सौं भिन्न जुदौ जड़ सौं,
चिनमूरति नाटक देखन हारौ।

कवि बनारसी दास ने कुंदकुंदाचार्य के प्रपंचसार के आधार पर 'समयसार' में अनादिकालीन महाअज्ञान की विस्तृत नाटचशाला में पुद्गल (matter अर्थात् प्रकृति) के उस नृत्य का वर्णन किया है, जिसका एक मात्र देखने वाला (प्रेक्षक) सम्यक्-दृष्टि आत्मा है। इसमें चैतन्य नट के नाटक का वर्णन है, इसीलिए यह नाटक है—

ज्यों नट एक धरै बहु भेख,
कला प्रगटै बहु कौतुक देखै।
आयु लखै अपनी करतूति,
वहै नट भिन्न विलोकति भेखै।
त्यों घट मैं नट चेतन राव,
विभाउ दशा धरि रूप विसेखै।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनौं पद,
दुंद बिचारि दया नहि लेखै।

अपनी इस विषय वस्तु के कारण ही 'समय सार' को कवि ने नाटक कह दिया। अन्यथा इस में मध्यकाल के नाटकों को संवाद वाले उपकरण का भी अभाव ही है।

इसके अतिरिक्त 'नाटक' नामधारी कृतियों में 'सभासार' नाटक लछिराम का 'करुणाभरण' नाटक उदय कविकृत 'हनुमान' नाटक, रामकरुना नाटक, (लक्ष्मण

संग्राम नाटक) और अहिरावन लीला नाटक आदि उल्लेखनीय है। इन नाटकों का लक्ष्मी भूत रंगमंच रास लीला या राम लीला का ही है, इसलिए इनमें लीला साहित्य की प्रायः सब प्रमुख विशेषतायें मिलती हैं। इनमें परिचयात्मक कुछ अंशों को छोड़कर और सब बातें संवाद के रूप में मिलती हैं। उदय कवि ने अपने उल्लखित नाटकों में भ्रमरगीत की छन्द शैली अपनाई है। उदय के 'हनुमान नाटक' में हनुमान का दौत्य कर्म वर्णित है, वार्त्तालाप सरस हैं—

रावण— रे बानर बौराय कहा मोकों डरवावै।
लैहौं जीभ कढ़ाय कुठिल मो कों भरमावै ॥
जीव राषि अब आपनो तोकों डारौं मारि।
करत बड़ाई नरन की जुरि करि बन्दर धारि ॥
[रजायस राम की]

हनुमान— घर बैठे ही असुर बान तोकौं बनि आवै।
कोपैंगे रण राम ठाम दुबकन नहिं पावै ॥
लागत बान प्रचंड तब षंड षंड दससीस।
न्यारी न्यारी सिर भुजालै जैहैं दससीस ॥
[रजायस राम की]

इस नाटक में छंद के चार चरणों के बाद साद्यन्त 'रजायस राम की' स्थायी टेक के रूप में प्रयुक्त है। 'राम करुना नाटक' में इसी प्रकार 'राम करुना करैं' की टेक है और 'अहिरावन नाटक' में 'कुमर ए कौन के।'

इन नाटकों में गद्य का नितान्त अभाव है। डा० दशररथ ओझा की स्थापना है कि हिन्दी नाटकों में प्रथम गद्य प्रयोग[1] शंकरदेव ने 'पारिजात हरण' और 'राम विजय' जैसे नाटकों में किया। मेरा विचार है शंकरदेव के नाटक भारतीय नाट्य परम्परा में गद्य प्रयोग की अंतिम अवस्था के सूचक हैं। आगे चल कर नाटकों में गद्य प्रयोग और भी विरल हो गया। इसका एक कारण यह था कि लीला के रंगमंच के अभिनेता यथास्थान गद्य का उपयोग अथवा प्रयोग स्वयं कर लेते थे, कवि को उनके लिए केवल पद्य भाग प्रस्तुत करना होता था। यह लिखा जा चुका है कि यह परम्परा किसी न किसी रूप में आज भी चली आ रही है। आगे चलकर नाटक में पुनः गाँव की सम्यक् प्रतिष्ठा करने का श्रेय भारतेन्दु जी को ही है।

मध्यकाल में नाटक नाम की दो प्रकार की कृतियाँ मिलती हैं—अनूदित एवं मौलिक। अनूदित नाटकों में 'प्रबोध चन्द्रोदय' प्रधान है। केशवदास का

१—आलोचना त्रैमासिक जुलाई १९५७, 'हिन्दी नाटक में प्रथम गद्य-प्रयोग।'

'विज्ञानगीता' भी इसी का अनुवाद है, पर केशवदास जी ने उसमें बहुत सी फालतू बातें जोड़-जाड़ कर उसके मूल रूप को ही उलझा दिया है। 'देव' के 'देवमाया प्रपंच नाटक' के मूल में भी प्रबोध चंद्रोदय की ही प्रेरणा है, पर वह नाटक न रह कर ज्ञानवार्त्ता मात्र बन गया है। 'ब्रजविलास' के प्रसिद्ध कवि ब्रजवासी दास ने भी 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक का अनुवाद विविध छंदों में प्रस्तुत किया। पर संस्कृत के इस प्रसिद्ध प्रतीक-नाटक का सबसे सुन्दर अनुवाद जोधपुर नरेश महाराज जसवंत सिंह ने किया। इस नाटक में यथास्थान गद्य का भी प्रयोग किया गया है, जो सत्रहवीं शताब्दी के गद्य के अध्ययन की दृष्टि से बहुत उपादेय है। इस काल के अनूदित नाटकों में हृदय राम के भाषा हनुमन्नाटक का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। महाराज जसवंत सिंह ने प्रबोध चंद्रोदय का यथासाध्य अक्षरशः अनुवाद करने का प्रयत्न किया था, पर हृदय राम ने संस्कृत के हनुमन्नाटक का केवल क्षीण अवलंब मात्र ग्रहण किया और कवित्त-सवैयों में बड़े सुन्दर और परिमार्जित संवाद लिखे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी यह स्वीकार किया है कि भक्तिकाल के भीतर नाटक के रूप में जितनी रचनाएँ हुईं, उनमें हृदय राम का 'भाषा हनुमन्नाटक' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। कवि राम का 'हनुमान नाटक' नेवाज का 'शकुंतला नाटक' आदि भी इसी परंपरा में आते हैं। ये अनुवाद की अपेक्षा रूपान्तर ही अधिक हैं। इस परंपरा की अंतिम कड़ी राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'अभिज्ञान शकुन्तला' का अनुवाद माना जा सकता है।

इस काल के मौलिक नाटकों में कुछ प्राणचंद चौहान रचित 'रामायण महानाटक' की श्रेणी में आते हैं। ये राम लीला की शैली के अनुरूप ढाले गए हैं। संस्कृत-नाटकों की ह्रासकालीन परंपराओं का अनुसरण करने वाली रचनाओं में रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनंद रघुनंदन नाटक' है, इसके गद्य तथा पद्य दोनों की भाषा ब्रजभाषा है। इस नाटक की रचना करते समय इनके सामने एक ओर संस्कृत के नाटकों की परंपरा थी और दूसरी ओर लीला-नाटकों की प्रविधि। दोनों का स्पष्ट प्रभाव इस पर लक्षित होता है। वस्तुतः इस नाटक में दोनों प्रविधियों के समन्वित विधान की अपेक्षा इन की खींचतानी ही अधिक है। इसलिए यह एक-परिमार्जित नाटक का सुस्थिरीकृत रूप नहीं प्राप्त कर सका है। इस काल के अंतर्गत नाट्यधर्मी परंपरा के रचनाकारों के सामने रंगमंच का कोई रूप नहीं था, इसलिए उनकी कृतियों में नाटकीय उपादानों का सम्यक् विनिवेश नहीं हो पाया है। महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'गीतारघुनन्दन' नाम का नाटक भी लिखा है। आनन्द रघुनन्दन नाटक की अपेक्षा गिरिधर दास के नहुष नाटक में नाटकीय उपादानों की सुष्ठुतर योजना संपन्न हुई है, इसीलिए भारतेन्दु जी ने उसे हिन्दी का पहला नाटक माना है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि मध्यकाल में 'संवाद में रचना करना 'नाटक' लिखना हो गया था।' मैंने पूर्ववर्ती अध्याय में नाटकीय संवादों की परंपरा का संक्षिप्त विवरण दिया है। यह परम्परा रीतिकाल तक बराबर चलती रही। इस परम्परा के पोषकों में नरहरि का नाम सबसे महत्त्वपूर्ण है। इन संवादों में जन-जीवन को अनुरंजित करने वाले नए-नए प्रसंगों की उदभावना की गई है।

६

भारतेन्दु के नाटकों का क्रियाकल्प

नाटक दृश्य काव्य है, अभिनेयता और रंगमंचीय उपयोगिता की दृष्टि से ही उसकी रचना होती है। भिन्न रुचि वाली बहुसंख्यक जनता नाटक देखती है, इसलिए उसे सब प्रकार के दर्शकों के मनोरंजन का उत्तरदायित्व भी सफलता पूर्वक बहन करना होता है। तात्पर्य यह कि नाटककार को प्रतिपद अभिनेताओं की योग्यता, रंगमंच की आवश्यकता, तथा दर्शकों की रुचि को दृष्टि में रख कर चलना होता है। जिन भाषाओं का अपना विकसित रंगमंच है, उनके लेखकों को इस कार्य में विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु हिन्दी जैसी भाषा में, जिसका अब तक कोई अपना रंगमञ्च ही नहीं, नाटक-रचना वस्तुतः लेखकों की कसौटी है, जिस पर भारतेन्दु जी सब प्रकार से खरे उतरते हैं। ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि भारतेन्दु जी ने बड़े विशाल क्षेत्र से अपने नाटकों के लिये सामग्री का चयन किया है। इस सामग्री का प्रयोग उन्होंने नाटकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सफलता पूर्वक किया, यह महत्त्व की बात है। वे यह कभी नहीं भूलते कि अभिनीत होने में ही उनकी रचनाओं की सार्थकता है और अपने नाटकों द्वारा उन्हें एक नियत समय तक दर्शक-मण्डली का मनोरंजन करना है। उनके नाटकों की प्रस्तावना से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'प्रेम जोगिनी' की प्रस्तावना में परिपार्श्वक सूत्रधार से कहता है:—

"परन्तु मित्र बातों से तो काम चलेगा न। देखो ये हिन्दी-भाषा में नाटक देखने की इच्छा से आये हैं। इन्हें कोई खेल दिखाओ।"

इस कथन से हिन्दी भाषा में नाटक शब्द पर जो गौरव है उससे प्रकट होता है कि उन्हें हिन्दी-भाषा में नाटक देखने वालों को सब प्रकार सन्तुष्ट रखना अभीष्ट था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की प्रस्तावना में भी उनकी दृष्टि दर्शकों पर जमी हुई प्रतीत होती है। सूत्रधार कहता है:—

"अहा! आज की सन्ध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं; और सबकी इच्छा है कि हिन्दी-भाषा का कोई नवीन नाटक देखें।"

इस कथन का उत्तरार्द्ध हिन्दी भाषा के नवीन नाटकों में दर्शकों की बढ़ती हुई रुचि का पता देता है। इस कथन से यह भी प्रतीत होता है कि भारतेन्दु जी ने जन-साधारण से लगाकर विशेषज्ञों-गुणज्ञ और रसिक तक को दृष्टि में रख कर अपने नाटक लिखे हैं। इससे सिद्ध है कि वे नाटक-प्रणयन प्रारम्भ करने के पूर्व अपने कार्य की गुरुता को भलीभाँति समझ चुके थे। उनको ज्ञान था कि सब प्रकार के दर्शकों का साधुवाद ही नाटक की सफलता का मानदण्ड माना जा सकता है।

परन्तु दर्शकों का मनोरञ्जन-मात्र भारतेन्दु जी को अभीष्ट नहीं था। उन्होंने अपने नाटक नामक निबन्ध में लिखा है:—

"आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्यफल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है।.........................नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें। अरस्तू[१], जानड्राइडेन[२], पेरकारनी[3], गोलडानी[४], बेन जानसन[५], फर्कुंदर[६], लेसिंग[७] आदि योरोपीय विद्वान् भी नाटक को ऐसी ही सोद्देश्य रचना मानते हैं। यूरोप में ओजियर और मोलियर जैसे अनेक नाटककार और विद्वान भी होते रहे हैं जो कोरे मनोरञ्जन को नाटक का लक्ष्य मानते हैं, पर हमारे देश में वेद व्यवहार को सार्ववर्णिक अथवा सार्वजनिक बनाने का जो उदात्त आदर्श महर्षि भरत ने नाटकों के लिए निरूपित किया, प्रायः सब नाटककार उसकी सिद्धि का प्रयत्न करते रहे। इस प्रकार भेद से भारतेन्दु जी भी अपने नाटकों द्वारा इसी आदर्श को चरितार्थ करने की ओर उन्मुख थे। प्रसिद्ध भारती विद्याविद् डा० फतह सिंह ने लिखा है—'....................... अनेक रसात्मक तत्त्वों को रस-निष्पति के लिए उपयुक्त विभावों के रूप में एकत्र करके नाट्य न केवल अन्य काव्यों में श्रेष्ठ हो सकता था, अपितु धर्म संस्थापन का एक प्रबल साधन भी हो

1—Aristotle's Poetics Purgation theory.

२—मानसिक आनन्द द्वारा चरित्र संशोधन की उत्कंठा ही उसका (नाटक का) मुख्य ध्येय है। ऐन एसे आन ड्रैमैटिक पोयजी।

3—Discourse de l utilite' deg parties du poeme dramatique (1660)

4—Memoires (1787) -- 'Comedy will correct laughter.....'

5—Timber, or Discoveries (1641).

6—A Discourse upon come dy (1701).

7—Hambugische Dramaturgie, No. 12.

सकता था और सम्भवतः बहुत काल तक वह इस अवस्था में रहा भी।[1] भारतेन्दु की नाट्य-सामग्री का जो विश्लेषण पहले प्रस्तुत किया जा चुका है, उससे यह स्पष्ट है कि वे भारतीय जनता को अपने नाटकों द्वारा युग धर्म की शिक्षा देना चाहते थे। यह कार्य भारतेन्दु जी किस कुशलता के साथ सम्पादित कर रहे थे, इसको ठीक-ठीक समझने के लिए हमें अपने को उस दर्शक मण्डली के बीच बैठा हुआ कल्पित करना चाहिए, जिसके लिये वे नाटक रचना कर रहे थे।

इसके अतिरिक्त वह रंगमंच भी हमारी कल्पना में पूर्ण रूप से जम जाना चाहिये, जिसको ध्यान में रख कर भारतेन्दु जी के नाटक लिखे गये थे। उनकी दृष्टि समय के रंगमंच की सब परम्पराओं पर पहुँची थी। जैसे पहले से स्पष्ट होता आ रहा है, भारतेन्दु जी को अपने समय में चार प्रकार का रंगमंच मिला। एक राम लीला का, दूसरा रास लीला का, तीसरा नौटंकी का और चौथा पारसी कम्पनियों का। उस समय की नाटक प्रेमी जनता इन्हीं चारों प्रकार के रंगमंचों से मनोरञ्जन उपलब्ध करती थी। धार्मिक प्रवृत्ति के लोग राम लीला और रास लीला के प्रेमी थे, लौकिक विषयों में रुचि रखने वाले लोग विशेषतः अशिक्षित और ग्रामीण नौटंकी के अनुरागी थे। पारसी कम्पनियों का उदय अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के साथ साथ नगरों में हुआ था, अतः वहाँ की अधिकांश जनता पारसी रंगमंच द्वारा चमत्कृत थी। एक ऐसा वर्ग था, जो इन चारों में से किसी से भी संतुष्ट नहीं था। उसे लीला और नौटंकी रंगमंच से संतोष नहीं था और पारसी रंगमञ्च का वातावरण तो उसे अत्यन्त अराष्ट्रीय और असांस्कृतिक प्रतीत होता था। स्वयं भारतेन्दु भी पारसी रंगमंच से इन्हीं कारणों से क्षुब्ध थे[2] अतएव वे जानते थे कि उन्हें अपने नाटकों द्वारा इन सभी वर्गों के दर्शकों को आकर्षित करना और उनकी रुचि को परिष्कृत करना है तथा उनके मन में देश के अतीत,

---

१--दे० साहित्य और सौन्दर्य नं० २१.

२-- दे० डा० श्री कृष्ण लाल कृत आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास पृ० २०७

'एक बार वे (भारतेन्दु) किसी पारसी कम्पनी का 'शकुन्तला' नाटक देखने गये थे। जो कालिदास की अमर कृति के आधार पर लिखी गई थी। डाक्टर थीबो भी थियेटर हाल में उपस्थित थे। परन्तु जब उन्होंने देखा कि नायिका 'शकुन्तला' एक हाथ कमर के नीचे और दूसरा सिर पर रखे हुये नीच जाति की गँवारू स्त्रियों की तरह नाचती हुई गा रही है 'पतली कमर बल खाये' तब वे डाइरेक्टरों को कोसते हुये थियेटर से बाहर निकल आये।"

आगत और अनागत की यथार्थ स्थित अंकित करनी है । सम्भवतः संसार के कम ही नाटककारों को इतनी प्रतिकूल परिस्थिति में इतना कठिन काम करना पड़ा है । अतः इस परिस्थिति में भारतेन्दु ने जो कुछ किया उसका महत्त्व ऐतिहासिक है ।

भारतेन्दु ने प्रत्येक प्रकार के रंगमंच पर खेली जाने वाली नाटकीय रचनाओं का परिमार्जित रूप प्रस्तुत करके दर्शकों की एक सामान्य परिष्कृत रुचि निर्माण करने का प्रयत्न किया । काशी में जो रामलीला श्रीमान् महाराज काशीराज भक्त शिरोमणि की कृपा से[1] होती थी, उसके लिए उन्होंने अत्यन्त सरस पाठ्य प्रस्तुत किया ।[2] रामलीला को भी साहित्यशास्त्र विहित सब तत्त्वों से विभूषित करके उन्होंने चन्द्रावली नाटिका के रूप में उपस्थित किया । नौटंकी का समुन्नत रूप भी नील देवी नाटिका में दिखाई पड़ा, जिसे भारतेन्दु जी ने गीत रूपक कहा है । पारसी रंगमंच पर साहित्यिक और सांस्कृतिक शक्तियों का प्रवेश अथवा अधिकार संभव नहीं था, परन्तु उस पर खेले जाने वाले नाटकों का परिष्कृत रूप स्वतः हमें उनके 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि अनेक मौलिक अथवा अनूदित नाटकों में मिल गया । इन नाटकों के खेलने की परिपाटी भी उन्होंने स्वयं चलाई, और इस प्रकार एक ऐसे रंगमंच को जन्म दिया, जो उनके द्वारा आयोजित जन-आन्दोलन के लिये बहुत उपयोगी था । यह रंगमंच पारसी रंग मंच की तरह समृद्ध, अलंकृत और आडम्बर पूर्ण नहीं था और न उसके समान इसके स्थानान्तरण में किसी प्रकार की असुविधा थी । यह रंगमंच नौटंकी की तरह किसी भी सार्वजनिक स्थान मेला-ठेला, विद्यालय, मन्दिर आदि में जमाया जा सकता था । इसका काम कम से कम पर्दों से भी चल सकता था, अधिक हो तो अधिक अच्छा ।[3] उपलब्ध पर्दों पर जो दृश्य अंकित होते थे, उनके अतिरिक्त शेष दृश्य-विधान राम लीला और रास लीला की शैली पर उपयुक्त उपकरणों के सन्निवेश द्वारा प्रस्तुत किया जाता था । इसके प्रेक्षागृह के विधान में पर्याप्त स्थिति स्थापकत्व होता था । अभिनेता सब पुरुष ही होते थे, स्त्री पात्रों का अभिनय भी उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता था । इस प्रकार एक ओर तो तत्कालीन विभिन्न रंगमंचीय प्रवृत्तियों का एक नवीन रंगमंच में एकीकरण करके तथा दूसरी ओर इस नव निर्मित रंगमंच में सरलता और सुन्दरता का विधान करके वे परंपरागत भारतीय नाटक को सार्ववर्णिकता और सार्वजनिकता के लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं । खेद की बात है, भारतेन्दु के रंगमंच का मूल्यांकन करने में बहुत से

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा खंड, पृ० ७७०

२— वहीं पृ० ७८०

३—दे० काशी के दैनिक काल में २८ अप्रैल, १९२७ को प्रकाशित

विद्वानों[1] ने इस पक्ष को पूर्णतया भुला दिया है और ऐसी बातें कही हैं जो सुरुचि, सहानुभूति और देश-प्रेम की परिचायक न होकर उनके अभिनिवेश और पूर्वाग्रह आदि को प्रकट करती हैं। वस्तुतः आधुनिक सामाजिक प्रवृत्तियों से सम्पर्क रखने वाले सभी विद्वान इस बात को स्वीकार करेंगे कि जन साधारण के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व की पृष्ठभूमि में इस प्रकार के रंगमंच ही के लिए एक समुज्ज्वल और समुन्नत भविष्य निर्मित हो सकता है, वर्तमान रूस के सार्वजनिक रंगमंच के अनुकरण पर प्रचारित इंडियन पीपुल्स थियेटर आदि की लोकप्रियता इस बात का प्रबल प्रमाण है।

भारतेन्दु ने एक अत्यंत कुशल नाटककार की भांति अभिनेताओं का

बाबू गोपाल राम गहमरी के यात्रा संबंधी एक लेख का अंशः—

"बयालीस वर्ष पहले की बात है जब काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने बलिया में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक स्वयं हरिश्चन्द्र बनकर खेला था, जिसमें हिन्दी के सुलेखक—'दु:खिनी बाला' के लेखक बाबू राधाकृष्ण दास सरीखे हिन्दी सेवक और रविदत्त शुक्ल जैसे कवियों ने पार्ट लिया था। उस समय पर्दा और सीनों का अभाव नहीं था, लेकिन जो कुछ स्टेज उस समय बना था, बजाज के कपड़े तान कर जो काम भारतेन्दु ने कर दिखाया था, उसकी महिमा यूरोपियन लेडियों तक ने गाई थी। उस समय की कलक्टर साहब की मेम ने आंसुओं से भरा रुमाल निचोड़कर जब साहब की मार्फत भारतेन्दु जी से आग्रह किया था कि रानी शैव्या का श्मशान में विलाप अब धीरज छुड़ा रहा है। सीन बदला जाय, तो इस पर सत्य हरिश्चन्द्र बने हुये भारतेन्दु ने स्वयं ओवर एक्ट किया था और दर्शक मंडली में करूणा के मारे त्राहि-त्राहि मच गई थी। पात्रों का शुद्ध उच्चारण हमने उसी समय हिन्दी के नाटक स्टेज पर सुना था। जहाँ हिन्दी के बड़े-बड़े लेखक रहते हैं, वहाँ भी हिन्दी के नाटक हमने देखे हैं, लेकिन उनके पात्रों का उच्चारण और चरित्र चित्रण देखकर यही कहना पड़ता था कि अच्छे अच्छे नाटक लिखे रहने पर भी हिन्दी का प्रसार नाटकों के स्टेज पर होने को अभी बहुत दिन बाकी हैं।"

१—दे० डा० सोमनाथ गुप्त का हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास पृ० १४०.

डा० श्री कृष्णलाल का आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास पृ० २०३ और २०९.

डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का आधुनिक हिन्दी-साहित्य पृ० २७४.

भी पूरा ध्यान रक्खा था । अपने नाटक नामक 'निबंध[1]' में उन्होंने तत्संबंधी अनेक व्यावहारिक निर्देश दिये हैं । भारतेन्दु जी को ऐसे लोकसंग्रही अभिनेताओं की सदा खोज रहती थी, जो उनके द्वारा प्रचारित युगधर्म की प्रभावशाली अभिनयात्मक व्याख्या प्रस्तुत कर सकें । ऐसे अभिनेता वे व्यक्ति ही हो सकते थे जिनको तत्कालीन जनता की रूचि और हित का समान ध्यान हो । ऐसे लोग सामने आयें, इसलिये भारतेन्दु ने स्वयं अभिनय किया । उन्हीं की प्रेरणा से पं० प्रताप नारायण मिश्रऔर पं० बाल कृष्ण भट्ट जैसे जन-जीवन में रमे हुये विशिष्ट प्रतिभाशाली लेखक रंगमंच पर उतरे । आगे भी उनके द्वारा स्थापित इस आदर्श का पालन पुण्यश्लोक महामना पं० मदन मोहन मालवीय और राजर्षिपुरुषोत्तम दास टंडन जैसे व्यक्तियों ने अभिनेता के रूप में रंगमंच पर अवतीर्ण होकर किया[2] । ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु जी नाटक की सार्ववर्णिकता और सार्वजनिकता के आदर्श को चरितार्थ कर सकने वाले लोकहित की भावना से भावित अभिनेताओं का दल संगठित करना चाहते थे । परन्तु तत्कालीन समाज में ऐसे अभिनेताओं की संख्या का अधिक होना संभव नहीं था । अतएव साधारण व्यक्तियों से भी काम चलाना पड़ता था । अवश्य उस समय प्रत्येक नाटकीय आयोजन में सब जगह भारतेन्दु के आदर्श से अनुप्राणित कोई न कोई अभिनेता रहता होगा । ऐसे व्यक्ति के सहयोग के बिना भारतेन्दु के अव्यावसायिक रंगमंच के लोकप्रिय होने की कल्पना नहीं की जा सकती । वस्तुतः भारतेन्दु ने अपने नाटकों में भाग लेने वाले सब प्रकार के अभिनेताओं के स्थान में अपने को रखकर उनके लिए ऐसे संवाद लिखने का प्रयत्न किया है, जिनसे उनमें से प्रत्येक के लिये निर्दिष्ट पात्र चरित्र की सम्यक् अभिव्यक्ति हो सकी है । हरिश्चन्द्र, सूर्यदेव, चन्द्रावली, शैव्या, सावित्री और सत्यवान आदि के कथोपकथन उन्होंने अपने और प्रतापनारायण मिश्र जैसे अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर लिखे हैं, तो पीकदान, चपरगट्टू, झूरीसिंह और गया पंडित जैसे पात्रों के संवाद उन्होंने अन्य अभिनेताओं के लिए लिखे हैं । उनके रंगमंच पर स्त्रियों का अभिनय भी पुरुष ही करते थे । भारतेन्दु जी जानते थे कि इस काम में स्वाभाविकता लाना कठिन काम है । उन्होंने लिखा है, नाटक के जो सब अंश स्त्रीगण कर्तृक प्रदर्शित होते है, उनमें भाव, हाव, हेला, प्रगति, यौवन

१—बा० व्रजरत्नदास द्वारा संपादित भारतेन्दु नाटकावली द्वितीय भाग पृ० ४६१ ।

२—यह पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा स्थापित हिन्दी नाट्यपरिषद द्वारा अभिनीत शकुन्तला नाटक में महामना मालवीय जी ने शकुन्तला का अभिनय किया था ।

संभूत अष्टा विंशति प्रकार के अलंकारों का उन लोगों को अभ्यास नहीं करना पड़ता, किन्तु पुरुषों को स्त्री वेश धारण के समय अभ्यास द्वारा वह भाव दिखाना पड़ता है[1]। इस दृष्टि से ही उन्होंने स्त्री पात्रों के लिये लिखे गये संवादों में अपेक्षाकृत अधिक कोमलता, सुकुमारता, सरसता का समावेश किया है। इस दृष्टि के मनोवैज्ञानिक मर्म को जो विद्वान नहीं समझ सकते उनके लिये भारतेन्दु का यह प्रयत्न रोचकता की सीमा लांघता हुआ प्रतीत होता है[2]।

इस विवेचन में मैंने भारतेन्दु के नाटकीय कौशल के गुणागुण ज्ञान के वैज्ञानिक आधार प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। वे अपने नाटकों के अभिनेताओं के लिए संवाद परिकल्पित करके विभिन्न पात्रों के चरित्रों की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, यह मैं लिख चुका हूँ। उनके ये चरित्र जिस कथावस्तु की पृष्ठ भूमि में आकार प्राप्त करते हैं, उसके विधान की उनकी कला अनेक दृष्टियों से आकलनीय हैं। उन्होंने पुराण, इतिहास, जनश्रुति, सामयिक प्रसंग और स्वयं अपने जीवन से सूत्रशेष कथाओं को चुनकर काव्य प्रतिभा तथा उर्वर कल्पना द्वारा सरस सजीव चित्र-यवनिकाओं के रूप में परिणत कर दिया है। उनके वस्तु-विधान की पहली उल्लेख योग्य विशेषता यह है कि वे कथा-वस्तु के अंतर्गत में नाना रस-संकुल सुख-दुखमयी ऐसी अवस्थाओं की निरन्तर सृष्टि करते चलते हैं, जिनसे छोटी-बड़ी विविध अप्रत्याशित परिस्थितियाँ आविर्भूत होती रहती हैं। उनके प्रत्येक नाटक से इसके उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सत्य हरिश्चन्द्र और नील देवी में तो सुख-दुखमयी अवस्थाओं और अप्रत्याशित परिस्थितियों की भरमार है। सत्य हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त उनके अन्य सभी मौलिक नाटक छोटे-छोटे हैं। पर, इन छोटे-छोटे नाटकों में भी उन्होंने जितनी अप्रत्याशित और विस्मयोत्पादक परिस्थितियों की विचित्र परिकल्पना की है, उतनी कम ही नाटककार इससे कहीं बड़े चित्र पट पर प्रदर्शित कर पाये हैं। नीलदेवी उनका एक बहुत छोटा नाटक है जिसमें कुल दस छोटे-छोटे दृश्य हैं। इसी आकार के अनेक एकांकी भी आधुनिक हिन्दी साहित्य में मिलते हैं। इस छोटे से नाटक का प्रत्येक दृश्य एक नई आकस्मिक परिस्थिति लेकर आता है। इसका अच्छा निदर्शन 'विषस्यविमौषधम्' नामक भाण में है जिसमें नियमानुसार आकाशभाषित का व्यवहार हुआ है। यह अपेक्षाकृत एक कठिन प्रयोग है, कारण इसमें एक ही अभिनेता आंगिक और सात्विक अभिनय

१—बा० ब्रजरत्न दास सम्पादित भारतेन्दु नाटकावली द्वि० भा० परिशिष्ट पृ० ४४५

२—दे० डा० रामबिलास शर्मा कृत भारतेन्दु युग पृ० ६२

के योग से अपने स्वगत कथनों द्वारा विविध परिस्थितियों की कल्पना जगाता है। भारतेन्दु के इस एक अंक के छोटे से भाण में बड़ी विस्मयोत्पादकता और विचित्रता है।

प्रारम्भ में भंडाचार्य किसी को कहते सुनता है कि 'परनारी पैनी छुरी ताहि न लाओ अंग, रावन हूँ को सिर गयो परनारी के संग।' भंडाचार्य बड़ौदा के महाराज मल्हारराव का मुसाहब है, इस कथन में उसको अपने महाराज पर आक्षेप का आभास मिलता है। अतएव, वह तुरन्त बड़े गर्व से उत्तर देता है—

रावन ने दस सिर दिये जनक नंदिनी काज।
जो मेरा इक सिर गयौ, तो या में कह लाज।।

और फिर तुरन्त ही महाराज मल्हार राव के षडयन्त्र का भंडाफोड़ करने वालों को चुनौती देता हुआ क्रोध से कहता है 'यह भेद खुलने पर भी हमने तुम्हे और कृष्णा बाई दोनों को न छकाया तो मेरा नाम भंडाचार्य नहीं'। परन्तु तत्काल वह ऊपर किसी को कहते सुनता है, "इसी उपद्रव से न यह गति हुई"। यह सुनते ही मानों उसकी सिट्टी-पिट्टी भूलने लगती है। जैसे ही उसे मालूम होता है कि यह बात महाराज मल्हार राव के संबंध में कही गई है, वैसे ही वह भीगी बल्ली बनकर बड़ी विनम्रता से पूछता हैं, 'ए भाई जरा हाल तो कहे जाओ।' जब उसे ज्ञात होता है कि महाराज गद्दी से उतार दिये गये तो वह बड़ा संताप प्रकट करता है.........हाय हाय! महाराज...... हाय महा अनर्थ हुआ। महाराज नहीं गये, हिन्दुस्तान गया। किन्तु जैसे ही उसे ज्ञात होता है कि (जिसके बल से वह कूदता था,) वह मल्हार राव अब लौटने का नहीं, वैसे ही वह संताप को भाड़ में झोंक कर उनकी निन्दा करने लगता है। ....और रही तो क्या। ....भला रावण इनसे बढ़के था कि ये रावण से बढ़के। एक बात में तो ये रावण से बढ़ गये कि ऐसे काल में और सरकार के राज्य में इन्होंने ऐसा उपद्रव किया। .... यदि ऐसे लोगों को उचित दंड नहीं दिया तो ये लोग न जाने क्या क्या अनर्थ करें। अंत में जब उसे ज्ञात होता है कि 'खान देश का एक कुमार गद्दी पर बैठा भी तो दिया गया, तो वह निर्लज्जतापूर्वक अट्टहास करता हुआ कहता है ......अहा हा। ......कहो और क्या चाहते हो, भला और क्या चाहिये, हमारा भंडपना जारी ही रहा, बड़ौदा का राज फिर सुख से बसा तो अब और क्या चाहिये........"। इसमें राजाओं के स्वार्थी मुसाहबों के चरित्र का यथार्थ चित्र तो मिलता ही है, हम साश्चर्य यह भी देखते हैं कि इस प्रकार के मानसिक संघर्षों के सोपान पार करके भंडाचार्य जहाँ से चले थे फिर वहीं हैं।

वस्तु वैचित्र्य विधान में भारतेन्दु जी को जो सफलता इस छोटे से एकांकी भाण में मिली है वह उनकी रचनाओं की साधारण विशेषता है।

भारतेन्दु की इस सफलता का रहस्य यह है कि उन्होंने नाटकीय वस्तु-विन्यास के मर्म को हृदयंगम करके उनके शास्त्रीय नियमों का प्रयोग कुशलता के साथ किया है। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि इन नियमों की सार्थकता रंगमंच, अभिनेता और दर्शक की आवश्यकता की पूर्ति करने में ही है। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि सुनिर्धारित योजनानुसार भारतेन्दु यथास्थल पाश्चात्य नाटकीय परंपरा के अनुकूल तत्त्व भी ग्रहण करते गए हैं। इसीलिये एक ओर जहाँ उनकी कथावस्तु की कार्य या व्यापार-शृंखला फलागम तक ले जाने वाली विविध अवस्थाओं की कड़ियाँ जोड़ती चलती है, तो दूसरी ओर उसमें संघर्ष के आरम्भ से उपसंहार तक[1] के पूरे क्रम का भी सन्निवेश रहता है। एक ओर उनके कुछ नाटकों में[2] भारतीय परंपरानुकूल प्रस्तावना की योजना है तो दूसरी ओर कुछ[3] ऐसे भी नाटक हैं जिनमें प्रस्तावना बिल्कुल नहीं है। शेष नाटकों में प्रस्तावना के स्थान पर एक अथवा अनेक अप्सराओं[4] के गायन द्वारा अनुकूल वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है। भारतेन्दु जी के नाटकों की प्रस्तावनायें अपनी विविधता के कारण विशेष महत्त्व रखती हैं। सत्य हरिश्चन्द्र में सूत्रधार कवि की प्रशंसा में निम्न दोहा पढ़ता है:—

जो गुन नृप हरिचंद में, जग हित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचंद में, लखहु प्रतच्छ सुजान॥

सूत्रधार के कथन के अर्थ को एक दूसरे दोहे में ग्रहण करते हुये इन्द्र प्रवेश करता है जिससे कथोद्‌घात[5] नाम की प्रस्तावना की सृष्टि हो जाती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में भी यही प्रस्तावना है। 'चन्द्रावली' में प्रयोगातिशय नाम की प्रस्तावना का प्रयोग किया गया है। प्रेमजोगिनी की प्रस्तवाना इस नाटिका की ही तरह एक नया प्रयोग सा प्रतीत होती है, क्योंकि

१—दे० सत्य हरिश्चन्द्र और नील देवी का कथानक
२—सत्य हरिश्चन्द्र, प्रेम जोगिन, वैदकी हिंसा हिंसा न भवति, भारत जननी, चन्द्रावली।
३—अँधेर नगरी, विषस्यविषमौषधम्, पाखंड विडंबन, भारत दुर्दशा
४—नील देवी, सती प्रताप।
५—सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादाया कर्मस्य वा। भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्‌घातः सउच्यते।

इस पर पाँचों [1]प्रस्तावनाओं में से किसी के भी लक्षण पूर्ण रूप से नहीं घटते। पर, यदि प्रवर्त्तक नाम की प्रस्तावना के लक्षण में काल प्रवृत्तं (उपस्थित समय) का अर्थ न करके युग की परिस्थिति किया जाय तो 'प्रेम जोगिनी' और 'भारत जननी' दोनों की प्रस्तावना को कदाचित उसके अंतर्गत लिया जा सकता है। कारण, इन दोनों ही नाटकों की प्रस्तावना में देश और समाज की दुरास्था का सूत्रधार द्वारा मार्मिक वर्णन कराया गया है और अगले दृश्यों में इसी का निदर्शन प्राप्त है। 'विषस्यविषमौषधम्' भाण में अलग से प्रस्तावना नहीं, पर रंगमंच पर किसी की बिना कही हुई बात को सुना सा करके उसके अर्थ को लेकर भंडाचार्य प्रवेश करता है, इसीलिए इसके प्रारम्भ को कथोद्घात का ही एक रूप कहा जा सकता है।[2]

प्रस्तावना के उपरान्त हमारी दृष्टि मूल कथावस्तु पर जाती है। अभीष्ट प्रभाव को अत्यन्त तिग्म, निशित, निबिड़ एवं अगूढ़ बना कर भारतेन्दु अपने दर्शन को हृदयंगम कराना चाहते हैं, इसीलिए वे आधिकारिक कथा के साथ कम से कम प्रासंगिक कथा का योग करते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके नाटकों के कलेवर में अनावश्यक वृद्धि नहीं होती और दर्शक की रुचि को सतत स्वायत्त रखने में उनको सुविधा हो जाती है। निःसन्देह कुशल नाटककारों ने प्रासंगिक कथा का अधिकाधिक प्रयोग आधिकारिक कथा को द्विगुण प्रभावशाली बनाने के लिये की किया है। परन्तु आज के अत्यन्त व्यात सामाजिक जीवन की जटिल परिस्थितियों से उत्पन्न समयाभाव के कारण इस कौशल के उपयोग का अवकाश नहीं रह गया है। भारतेन्दु इस आवश्यकता को पहिचान गये थे। इसलिये उनके कथावस्तु के विन्यास में नाटकों में पताका और प्रकरी नामक अर्थ प्रकृतियों का प्रयोग बहुत सीमित रखा गया है। तीन ही नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र, नील देवी और चन्द्रावली में इनका प्रयोग है। सत्य हरिश्चन्द्र में चाण्डाल और कापालिक आदि के वेश में धर्म के क्रियाकलाप नामक अर्थ प्रकृति का उदाहरण हैं। कारण धर्म की कथा अपेक्षाकृत अधिक व्यापी है और प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिये ही उसकी—पताका नायका—सारी चेष्टायें होती हैं। भैरव, उपाध्याय और बटु की प्रदेशस्थ होने के कारण प्रकरी मानी जायगी, प्रधाननायक के फल को सिद्ध करने के लिए ही उनकी भी उद्भावना की गई है। चन्द्रावली में पताका नहीं है पर वनदेवी, वर्षा और संध्या के प्रसंग में प्रकरी का

१—कथोद्घात्य, उद्घातक प्रयोगातिशये प्रवर्त्तक अवगलित।

२—कालं प्रवृतमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत्। तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रेशस्तत्यवत्कम।

अत्यन्त कलात्मक प्रयोग किया गया है। नीलदेवी में भी चन्द्रावली के ही समान पताका का प्रयोग नहीं है। पागल का प्रसंग प्रकरी के अंतर्गत है। पागल की चेष्टायें नायिका की फल-प्राप्ति की साधक होती है। पीकदान, चपरगटू और भठियारी का प्रसंग भी प्रकरी ही है परन्तु इसकी योजना विदेशी आक्रमणकारियों के भ्रष्ट चरित्र और भोगवादी जीवन परम्परा की एक झांकी प्रस्तुत करके वैषम्य द्वारा भारतीय और अभारतीय संस्कृतियों का अंतर स्पष्ट करने के लिए हुई है।

भारतेन्दु बीज, बिन्दु और कार्य नामक अर्थ प्रकृतियों के प्रयोग में भी विशेष कौशल प्रदर्शित करते हैं। उनके नाटकों के आरंभ में बीज के न्यास के साथ-साथ दर्शक में जो उत्सुकता जगती है, वह निरंतर बढ़ती जाती है और गाढ़ रसानुभूति में परिणति प्राप्त करतो हुई एक चमत्कार की सृष्टि कर जाती है। इन अर्थ प्रकृतियों के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं और संधियों का भी यथास्थान सुदंर योग होता जाता है, जिससे वस्तु-विन्यास का कलात्मकत्व तथा नाटक का दृश्य काव्यत्व उत्तरोत्तर उन्मेष प्राप्त करता रहता है। उदाहरण स्वरूप नील देवी नाटक के दूसरे दृश्य में बीज का वपन किया गया है जिसके साथ ही आरंभावस्था और मुख-संधि का उद्भव होता है। तीसरे दृश्य के अंत में नील देवी और सूर्य देव के उत्तर-प्रत्युत्तर में आरम्भावस्था और मुखसंधि का एक साथ अवसान हो जाता है, जिससे पूर्व हमें पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के स्वरूप से जो परिचय हो चुकता है उसके आधार पर हम अगले दृश्य में प्रयत्न, विन्दु तथा प्रतिमुख संधि के सूत्रपात को सहज ही ग्रहण कर लेते हैं। प्रतिपक्षी नायक-पक्ष के मार्ग में जो कुचक्रपूर्ण बाधायें खड़ी करता है और जिनका निश्चित आभास[1] चौथे दृश्य में मिलता है। वही पांचवें दृश्य में चरितार्थ होकर महाराज सूर्यदेव के बंधन के रूप में नायक-पक्ष को संकटापन्न करती हुई हमारे सामने आती हैं। इससे उत्पन्न निराशा जनक वातावरण में एक मात्र सहारा देने वाला नायक-पक्ष का वह बल और उत्साह तथा प्रति पक्षी का नैतिक दौर्बल्य और आतंक है जिसका परिचय हमें उभयपक्षी के पात्रों से यत्र-तत्र मिलता जाता है। चौथे दृश्य में पीकदान अली हिंदू सवारों के हाथों अपने चपतियाये जाने की घटना का विवरण देता है, साथ ही साथ अपने दीन के आदर्श को इस प्रकार प्रकट करता है:

जर दीन है, कुरआन है, ईमां है नबी है।
जर ही मेरा अल्लाह है, जर राम हमारा।।

१—चपरगटू........सुना वे लोग लड़ने जायेंगे।

प्रतिपक्ष की इस इष्ट दुर्बलता के विपरीत नायक पक्ष की सबलता का प्रमाण देवीसिंह की इस गर्वोक्ति में मिलता है.......क्षत्री का लड़का है घर की याद आवे तो और प्राण छोड़ कर लड़े, इसलिये राजा को बंदी बना लेने पर भी अमीर अब्दुलशरीफ की बाकी फौज के लिये चिन्तित होना आगामी प्राप्त्याशा के लिये अवकाश प्रदान करता है। सातवें और आठवें दृश्यों में हम उन फल प्रधान उपायों को उत्तरोत्तर विकास करने वाली गर्भ संधि तथा अवस्था प्राप्त्याशा के दर्शन करते हैं, जिनका (उपायों का) परिचय हमें मुख और प्रतिमुख संधियों में अनेक बार मिल चुका है। इस प्रसंग में पागल का प्रलाप विशेषतया उल्लेखनीय है, जिससे न केवल हमें यवन शिविर की आशा-निराशा मिश्रित घटनाओं की सूचना मिलती है, अपितु उस वातावरण का भी पता चलता है, जिसके आधार पर कल सब शराब पी कर मस्त होंगे। "चारों ओर देखकर कल ही अवसर है।" इस कथन द्वारा प्राप्त्याशा परिपक्वता को प्राप्त होकर नियताप्ति और गर्भ संधि को संभव बनाती है। नवें दृश्य में नील देवी के इस कथन में कि........'मेरी बुद्धि में यह बात आती है कि इनसे एक ही बेर सम्मुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करना अच्छी बात है, मुख्य फल की प्राप्ति का उपाय अधिक उद्‌भिन्न हो जाता है। इसलिये विमर्श नाम की संधि सिद्ध हो जाती है। राजकुमार सोमदेव की ओर से इस प्रस्ताव के विरोध में जो आपत्ति की जाती है उसे नील देवी उसके कान में चुपके से अपनी सब योजना समझा कर दूर कर देती है। इसके अभाव के दूर होते फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है, अतएव नियताप्ति समाप्त होकर आगे भी दसवें दृश्य में फलागम, निर्वहण और कार्य के लिए द्वार खोल देती है। दसवें दृश्य में कथा के समस्त सूत्रों का समाहार होकर अब्दुल शरीफ के बध के रूप में हमें कार्य नामक अर्थ प्रकृति विजयिनी भारत क्षत्राणी के साफल्य के रूप में उस फल को प्रत्यक्ष कराती है, जिसका संकेत प्रस्तावनात्मक प्रथम दृश्य में अप्सराओं के इस गीत में किया जा चुका है।

धनि धनि भारत की छत्रानी।
वीटक नयका वीर प्रसविनी वीर बधू जग जानी ॥
सती सिरोमनि धरम धुरन्धर बुधि बल धीरज सानी ॥
इनके जसकी तिहूंलोक में अमल धुजा फहरानी।

कथावस्तु के विकास में जिस शास्त्रीय पद्धति का अवलंबन भारतेन्दु ने अपने नाटकों में किया है, उसका सुन्दरतम स्वरूप हमें उनके संध्यंगों और संध्यंतरों के प्रयोग में मिलता है। नील देवी के दूसरे और तीसरे दृश्यों में मुख

संधि की स्थापना में उसके विभन्न अंगों का चमत्कारी प्रयोग किया गया है, जिसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

संध्यंग स्थान निर्देश

उपक्षेय शरीफ—(एक मुसाहब से) अकुस्समद खूब होशियारी से रहना। यहां के राजपूत बड़े काफिर हैं। इन कमबख्तों से खुदा बचाये।

परिकर—उल्लिखित कथन के उपरान्त काजी, शरीफ और मुसाहब का कथोपकथन।

परिन्यास—शरीफ—कभी उस बेईमान से सामने लड़कर फतह नहीं मिलनी है। मैंने तो अब जी में ठान ली है कि मौका पाकर एक शब उसको सोते हुये गिरफ्तार कर लाना।

विलोमन—शरीफ—इस राजपूत से रहो हुशियार खबरदार
गफलत न जरा भी हो खबरदार खबरदार।
ईमाँ की कसम दुश्मने जानी है हमारा।
काफिर है य पंजाब का सरदार खबरदार।
अजदर है भमूका है जहन्नुम है बला है।
बिजली है गजब इसकी है तलवार खबरदार।

युक्ति—शरीफ—इस दुश्मने ईमाँ को है धोखे से फँसाना।
लड़ना न मुकाबिल कभी जिन हार खबरदार।

समाधान—प० राज०—तो महाराज जब तक प्राण हैं तब तक लड़ेंगे।

दू० राज०—महाराज जय पराजय तो परमेश्वर के हाथ है, परन्तु हम अपना धर्म तो प्राण रहे तक निबाहेंगे ही।

सूर्यदेव—हां-हां, इसमें क्या संदेह है। मेरा कहने का मतलब है कि सब लोग सावधान रहें।

हो० रा०—महाराज, सब सावधान हैं। धर्मयुद्ध में तो हमको जीतने वाला पृथ्वी पर है ही नहीं।

प्राप्ति-सूर्यदेव—........जीते तो निज भूमि को उद्धार और नहीं तो स्वर्ग। हमारे तो दोनों हाथ लड्डू हैं और यश तो जीते तो भी हमारे साथ हैं और मरे तो भी।

करण-नीलदेवी—पर सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते हैं।

उद्रभेद०-चौ० राज०-महाराज........हम लोगों को एकाएकी अधर्म से भी जीतना कुछ दाल-भात का गुस्सा नहीं है।

नील देवी— तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान ही रहना चाहिए। आप लोग सब तरह चतुर हो, मैं इस में विशेष कहूँ। स्नेह कुछ कहलाये बिना नहीं रहता।

भेदे—सूर्यदेव—सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदाही।
जगत ही सब रहें रैन हूं सोअहिं नाहीं॥
कसे रहें कटि रात दिवश सब बीर हमारे।
दस्व पीठ सों होंहि चार जामें जिनि न्यारे॥
तोंडा सुलगम चढ़े रहें घोड़ा बन्दूकन।
रहें खुली ही म्यान प्रतंचं नहिं उतरें छन॥
देखि लेहिबे कैसे पामर यवन बहादुर।
आवहिं तो चढ़ि सनमुख कामर कूटसबै जुर॥
दहें रन को स्वांय तुरतहिं तिनहिं चरपाई।
जो पै इन छन हुँ सनमुख ह्वै करहिं लराई।

इन संध्यंगों के साथ ही इस प्रसंग में प्रत्युत्पन्नमति, ओज, धी, साहस आदि संध्यंतरों का भी प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अन्य संधियों के अंगों तथा विभिन्न संध्यंतरों का प्रयोग भी इस नाटक में दिखलाया जा सकता है। निर्वहरण संधि के अंगों के सुचारु प्रयोग से किसी नाटक का उपसंहार कितना सुन्दर हो सकता है, इसका उदाहरण हमें नील देवी में प्रयुक्त पूर्व भाव और उपगूहन से भली भाँति मिल जाता है। शास्त्रीय नियमों के पालन में भारतेन्दु जी ने आधुनिक रुचि का कितना ध्यान रखा है यह बात भी इस नाटक के उपसंहार से प्रमाणित हो जाती है, जिसमें संस्कृत-नाटकों के परम्परागत काव्यसंहार तथा प्रशस्ति नामक संध्यंगों का समावेश बहुत संक्षेप में एक नवीन ढंग से किया है। नील देवी के—अव में सुखपूर्वक सती हूँगी,—कथन में प्रथम को और विजयी क्षत्रियों के जय जय में द्वितीय को तत्त्वत: निष्पन्न कर दिखाया गया है।

यहाँ पर जिन शास्त्रीय नियमों का निदर्शन नीलदेवी से किया गया है, वे भारतेन्दु के नाटकों में प्राय: सर्वत्र विद्यमान हैं। नीलदेवी में संघर्ष भावना की प्रधानता और दुखान्तता आदि पाश्चात्य नाटकों के गुणों की प्रमुखता है, तथापि भारतेन्दु ने उसकी रचना का आधार शास्त्रीय ही रखा है, यह भली प्रकार प्रमाणित किया जा चुका है। भारतेन्दु के अन्य नाटकों में भी ऐसी ही युग धर्मानुसारी शास्त्रानुकूलता वर्त्तमान है। भारतेन्दु की कला के इस गुण को न समझने के कारण ही बहुत से आलोचकों ने उनके परखने में भूलें की हैं भारतेन्दु ने संध्यंगों और संध्यंतरों के प्रयोग द्वारा जिन उद्देश्यों की सिद्धि विशेष रूप से ध्यान में रखी हैं, वे हैं··· १– राग अर्थात् अनेक प्रकार के भावों का

संचार, २– आश्चर्य-प्रयोग अर्थात् चमत्कार-विधान, ३–वृतान्त का अनुपक्ष अर्थात् कथा का ऐसा विस्तार जिससे दर्शकों की रुचि अकुंठित रहे और ४– गोप्य-गोपन एवं प्रकाशन अर्थात् सूच्य एवं दृश्य कथानक का सम्यक् अनुपात। वस्तुतः इष्टार्थ [1] की प्राप्ति के लिये ही संधियोंके इन विविध अंगों और संध्यंतरों की परिकल्पना की गई है। पाश्चात्य नाटचाचार्य [2] प्रायः आश्चर्य-प्रयोग को ही नाटक का आधारभूत तत्त्व मानते हैं। हमारे नाट्यशास्त्र निर्दिष्ट संध्यंगों के प्रयोग से वह अधिक चारुता से निष्पन्न होता है। आश्चर्य-प्रयोग की अन्य शास्त्रीय विधियों के अन्तर्गत भारतीय नाट्यशास्त्र में पताका स्थान की भी योजना है जिसका उपयोग भारतेन्दु ने अपने नाटकों में यथास्थल बड़ी कुशलता से किया है। नील-देवी नाटक में पागल का प्रलाप सुश्लिष्ट और प्रधानार्थीन्तराक्षेपी होने के कारण पताकास्थानक का अत्यंत सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है। चन्द्रावली और सत्य हरिश्चन्द्र आदि नाटकों से भी पताकास्थानकों के प्रयोग के अनेक सुन्दर उदाहरण दिये जा सकते हैं।

चरित्र-चित्रण

नाटकीय पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा ही वस्तु का प्रासाद खड़ा किया जाता है। कथावस्तु किसी न किसी अर्थ को सामने रख कर चलती और ये पात्र इसी अर्थ की व्याख्या और विवृति करते हुये आगे बढ़ते हैं। अतः पात्रों के चरित्र-चित्रण की कसौटी यही है कि वे अपने इस निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति में योग देते रहें। इस दृष्टि से देखने पर भारतेन्दु के पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत ही सफल हुआ प्रतीत होता है। चरित्र-चित्रण के अध्ययन की सुविधा के लिए भारतेन्दु के नाटकीय पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

१- आदर्शोन्मुख पात्र-वे पात्र जो हमारे सामने एक आदर्श जीवन की झाँकी उपस्थित करते हैं।

२- यथार्थोन्मुख पात्र-वे जो सामान्य सामाजिक जीवन के प्रतिनिधि होकर हमारे सामने आते हैं।

३- रहस्योन्मुख पात्र-वे पात्र जो आध्यात्मिक, धार्मिक, प्राकृतिक तथा समाजशास्त्रीय तथ्यों के मानवीकरण होते हैं।

१- इष्टार्थ– जैसी रचना करनी हो, उसे पूरा करने के लिये।

२- दे० The Theory of Drama by A- Nicoll, पृ० ३५.३८ विशेषतः To the purely external features of dramatic art indicated above, therefore, we may add this other, the constant utilization of the unexpected leading towards emotional or mental shock indeed the very basis of plays upon this quality in plot idea.

आदर्शोन्मुख पात्रों के अन्तर्गत हरिश्चन्द्र, शैव्या, सावित्री, सूर्यदेव, नीलदेवी और रामचन्द्र की गणना की जा सकती है। हरिश्न्द्र के चरित्र में भारतीय नाट्य शास्त्र विहित नायक के सब गुणों का एकत्र समावेश है। उनके चरित्र में सब प्रकार की उच्च वृत्तियों का चरमोत्कर्ष पाया जाता है। वे महासत्त्व, क्षमावान, अति गंभीर, स्थिर और दृढ़व्रत हैं। उनके से धीरोदात्त नायक संसार के साहित्य अथवा इतिहास में कम हो पाये जाते हैं। भारतेन्दु ने उनके चरित्र-चित्रण में पर्याप्त सफलता पाई है। कारण, हरिश्चन्द्र का चरित्र धीरोदात्त नायक के उल्लिखित गुणों की निर्जीव अर्चा प्रतिमा मात्र नहीं है। उसमें अपार मानवीय संवेदना हैं, जो यथास्थल पत्नी-वियोग और पुत्र-शोक आदि अवसरों पर अत्यन्त व्यक्त होकर भी उसे अपने आदर्श से विचलित नही कर पाती। सूर्यदेव हमारे सामने एक आदर्श धीरोदात्त नायक के रूप में आता है। परन्तु उसका धीरोदात्तत्व नाट्य शास्त्र की परंपरागत परिधि को विस्तार देता हुआ अपनी गति-भंगियों से उसे एक नई सार्थकता से मंडित कर देता है। उसके चरित्र में 'रजपूती' साकार हो उठी है जो अधर्म पराङ्मुखता तथा आत्म-बलिदान प्रियता की ज्योति से मंडित है। हरिश्चन्द्र को धर्म और सत्य की परमावधि की कठोर साधना के पथ पर अलक्षित रूप से दैवी सहायता का पाथेय भी प्राप्त है और अन्त में भगवत्साक्षात्कार के साथ उन्हें चतुर्वर्ग लाभ भी हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत सूर्यदेव जानता है कि धर्म और सत्य के दुर्गम मार्ग पर चलते हुये उसे मृत्यु-सुन्दरी के आलिंगन के लिये ही प्रतिक्षण उद्यत रहना है। सूर्यदेव के साथी राजपूत के चरित्र में भी उस के समान ही धीरोदात्तत्व है। प्रेमजोगिनी के रामचन्द्र के चरित्र में लेखक ने अपने ही चरित्र का वह धीरललितत्त्व लाने का प्रयत्न किया है, जो कि मृच्छकटिक के चारुदत्त में मिलता है,[१] परन्तु फिर रामचन्द्र के धीरललित्त्व में ऐसी विशेषता हैं जो उसे संस्कृत-नाटकों के धीर ललित नायकों से पृथक् करती है।

स्त्री-पात्रों में भारतीय नारीत्व के आदर्श की दृष्टि से शैव्या, सावित्री और नील देवी तीनों में समाधिक समान गुण हैं, परन्तु पति पर संकट पड़ने पर उसके निराकरण के लिए तीनों तीन भिन्न मार्गों का अवलम्बन करती हैं। शैव्या साम्राज्ञी होते हुए भी दासवृत्ति अंगीकार करती है, सावित्री यमराज को पराजित करती है और नीलदेवी युक्ति से अपने हाथों अपने पतिघातक का बध करती है। प्रथम दो भारतीय नाट्यशास्त्र प्रथित नायिका के रूढ़ आदर्श के साँचे के अनुरूप हैं, परन्तु नीलदेवी के चरित्र में ऐसा पार्थक्य है जो भारतेन्दु

१—दे० प्रेम जोगिनी की प्रस्तावना।

की व्यक्ति वैचित्र्य चित्रण की प्रकृति को प्रकाश में लाता है। नीलदेवी के चरित्र में मध्यकालीन राजपूत सती के चरित्र का ज्वलंत निदर्शन प्राप्त होता है जो पद्मिनी और झांसी की महारानी लक्ष्मी बाई आदि की याद दिलाता है। नीलदेवी की निर्भीकता और साहस के भारतीय स्त्रियों के आदर्श बनें, इस दृष्टि विशेष से यह चरित्र चित्रित हुआ है।

आदर्शोन्मुख पात्रों के शील निरूपण में व्यक्ति वैचित्र्य-चित्रण की जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ी उसका विकास यथार्थोन्मुख पात्रों के चरित्र-चित्रण में देखा जा सकता है। यथार्थोन्मुख पात्रों द्वारा भारतेन्दु ने अपने युग और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध भली प्रकार व्यक्त किया है। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा भारतेन्दु ने यह दिखा दिया है कि वे अपने सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश के प्रति कितने प्रतिक्रपालु थे। ये पात्र ही वास्तव में हमें उनकी काव्य-प्रेरणा के मर्म तक पहुँचाते हैं। इन पात्रों में तीर्थों के पंडे, पुजारी, गुंडे, भंडेरिये, दुकानदार, तत्कालीन पत्रकार, सम्पादक, कवि, विभिन्न प्रान्तों के नई रोशनी के जबानी जमाखर्च करने वाले समाज सुधारक, भंडाचार्य, पीकदानअली, और चपरगट्टू खाँ जैसे राजदरबारों के मुसाहब राजा, वेदान्ती, पुरोहित आदि हैं। ये पात्र पूर्ण विकसित रूप में हमारे सामने नहीं आते, कुछ ही छणों के लिये रंगमंच पर आकर अपनी झलक दिखाकर चले जाते हैं, परन्तु ये समाज के जिस स्तर से लिये गये हैं, उसकी दशा को उन थोड़े से क्षणों में हमारी रागात्मक अनुभूति का विषय बनकर उपस्थित कर देते हैं। इन पात्रों की बातों में हम भारतेन्दु के युग के विशाल जनसमुदाय के विभिन्न वर्गों के रुदन-हास, राग, विराग और समस्या-संघर्ष की आकर्षक अभिव्यक्ति प्राप्त करते दिखाई देते हैं। इन पात्रों के चरित्र उन चित्रों की कोटि में आते है, जिनमें कलाकर आकृतियों के निर्माण में कम से कम रेखाओं और रंगों का प्रयोग करके भी उनकी पृष्ठभूमि को अधिकाधिक प्रकाश में ला देता है। उनमें सफल नाटककार का वह गुण कि पर्दे पर उनकी अँगुली कभी झूठी नहीं पड़ती[1]। वह प्रत्येक भाव को, प्रत्येक पात्र को वाणी देने में समर्थ है। अपने यथार्थोन्मुख पात्रों की वाणी में भारतेन्दु के नाटकों का दर्शक (और-हम भी) अपने समय और समय की करुण और जटिल वास्तविकताओं से परिचय प्राप्त करता है और फिर उसकी दृष्टि उल्लिखित आदर्शोन्मुख पात्रों की ओर जाती है, तो उसके हृदय से सहज ही ध्वनि निकलती है :—

कोटि कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि कोटि अति सूर,
कोटि कोटि बुध मधुर कवि मिले वहाँ की धूर

१ दे० राम विलास शर्मा कृत 'भारतेन्दु युग' पृ० ७१

सोइ भारत की आज यह भई दुरदसा हाय,
कहा करैं कित जायँ नहिं सूझत कछू उपाय[१],

भारतेन्दु के आदर्शोन्मुख और यथार्थोन्मुख पात्र उनकी भारतीय संस्कृति की चेतना की व्यापकता और तीव्रता का पता देते हैं। इसका उनकी इस चेतना की गहराई का निर्धारण उनके रहस्योन्मुख पात्रों के चरित्र के अनुशीलन से होता है। जिस आध्यात्मिक और धार्मिक ऊँचाई तक पहुचकर भारतवर्ष ने हरिश्चन्द्र और सावित्री जैसे चरित्रों को सहज-सुलभ किया, उसी के विभिन्न पहलुओं का मानवीकरण विभिन्न पात्रों के रुप में भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में किया हैं। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय 'चन्द्रावली' है, जो साद्यन्त एक परम सार्थक आध्यात्मिक रूपक है, जिसकी पृष्ठ भूमि का विस्तृत विवरण रास लीला के प्रसंग में दिया जा चुका है। इसमें चन्द्रावली का चरित्र प्रधान है, जिसकी प्रत्येक गति को भारतेन्दु ने भक्ति मार्ग के किसी न किसी मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक तथ्य से सुसम्बद्ध कर दिया हैं। पहले अंक में चन्द्रावली को हम ललिता से अपनी विरह व्यथा छिपाने में प्रयत्नशील पाते हैं, किन्तु एक बार जैसे ही उसका यह प्रयत्न असफल होता है वैसे ही उसकी विवशता और व्याकुलता आँसुओं में गल गलकर बहने लगती है........ "हमहीं अपनी दशा जाने सखी निशि सोवती हैं किधों रोवती हैं।' वह कहती है, मैं कितना चाहती हूँ कि ध्यान भुला दूँ, पर उस निठुर की छवि भूलती नहीं," इसी से सब जान जाते हैं कि उसका यह प्रेम सर्वथा काम गन्ध शून्य है, जिसका प्रमाण उसका यह कथन हैं कि हा सखी मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी, "तब भगवान से हाथ जोड़ कर मनाती थी कि भगवान् मैं उस निर्दयी को चाहूँ, पर वह मुझे न चाहे, हा !" दूसरे अंक में चन्द्रावली का चित्रण एक योगनी के रूप में हुआ है, उसका प्रेम आच्छादन के सब प्रयत्नों का परित्याग कर, संकोच छोड़कर, गहन तल्लीनता में डूब कर आत्म विस्मृति में परिणत हो गया है, उसका जड़ चेतन का विवेक नष्ट हो गया है[१], और वह अपने को ही कृष्ण समझने लगी है[२], तीसरे अंक में हम चन्द्रावली के प्रेम को फिर एक भिन्न अवस्था में पाते है, अब उसमें

---

१ दे० 'भारत दुर्दशा' नाटक।

२—'अहो कदंब अहो अंब निंब अहो बकुल तमाला।
तुम देख्यो कहुँ मनमोहन सुन्दर नन्दलाला॥
(चन्द्रावली)

३—पूँछत सखी कै एकै उत्तर बतावति जकी सी एक रूप आज श्यामा भई श्याम है ....चन्द्रावली।

पहले जैसी आत्मविस्मृति नहीं है। किन्तु उसके उपालम्भों में किंचित कटुता एवम् तीक्ष्णता और उद्‌गारों में अधिक आत्मीयता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों उसके प्रेमोन्माद की तीव्रता धीरे-धीरे अनुभूति की गहराई में बदल रही है, 'प्यारे तुम्हारा दोष कुछ नहीं है। यह सब मेरे करम का दोष है, नाथ मैं तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ, प्यारे छमा करो, मेरे अपराधों की ओर न देखो अपनी ओर देखो (रोती है), फलस्वरूप उसकी वेदना भी अब कदाचित पूर्वापेक्षा कहीं अधिक मर्मस्पृक बन गई हैं, यहाँ तक कि अब वह प्राण दे देने को तत्पर है, इस प्रसंग में इसी दृष्टि से भारतेन्दु ने चन्द्रावली के स्वगत कथन में गीत और पाठ्य आदि का बिल्कुल प्रयोग नहीं किया है, यह दशा देखकर माधवी आदि राधा कृष्ण की अन्तरगिणी सखियाँ राधा को प्रसन्न कर उसे कृष्ण से मिलाने का निश्चय कर लेती है, अन्तिम अंक में उस की दशा आश्चर्यजनक रूप से परिवर्तित दिखाई गई है, अब आत्मविस्मृति और उन्माद का स्थान कर्तव्यनिष्ठा ने ले लिया है और उसमें आसाधारण संयम आ गया है। अब तो वह प्रिय स्मृति को हृदय में छिपायँ अनासक्त भाव से घर के काम काज भी करती दिखाई देती है। अवश्य बीच-बीच में उसका मन इन बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने के लिये व्याकुल हो उठता है, इसी अवस्था में कृष्ण एक जोगिन के वेश में आकर उसके प्रेम की परीक्षा लेते है, और यह जानकर कि निस्संदेह इसका प्रेम पक्का है, और उसे दर्शन देते और अपनाते हैं।

ऊपर वर्णित चन्द्रावली का चरित्र एक आदर्श भक्त-चरित्र है, जिसका वर्णन नारद भक्ति सूत्र में अस्त्येवमेयम्[१] ।। यथा व्रजगोपिकानाम्[२] ।। कह-कर किया गया है। इस भक्ति का आधार वह प्रेम है, जो विरह से विकसित और पुष्ट होकर भक्त के प्रेम की तीव्रता को बढ़ाता है। चन्द्रावली की, प्रथम विरह दशा साधक की पहली अवस्था है, जब वह विषय वासना से रहित होकर अपनी साधना को 'अव्यावृतभजनात्'[३] अर्थात् आठों प्रहर अखंड प्रिय स्मृति रूप में उतारते हुये भी उसे दूसरों से छिपाना चाहता है। उसकी दूसरी विरहावस्था साधक की वह स्थिति है जिसमें वह गुण रहित कामना वर्जित प्रतिक्षण वर्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर, अनुभवरूप, अनिवर्चनीय प्रेम स्वरूप का प्रकाश पा जाता है[४] और फिर उसको वही दीखता है, वही सुनाई पड़ता है,

१—ना० भ० सू०
२—ना० भ० सू०
३—ना० भ० सू० ।३६।
४—ना० भ० सू० ५१ ५४

वही उसकी बातचीत का विषय होता है, और उसे उसी की चिन्ता में डूबे रहना पड़ता है।[१] चन्द्रावली की तीसरी विरह दशा भक्त की वह अवस्था है, जिसमें वह अपना सर्वस्व भगवान को अर्पित करके अपने काम, क्रोध, अभिमान आदि का विषय भी उन्हीं को बनाता है[२] और नित्यदास या नित्य कान्ता भावना वाला प्रेम रखता है।[३] चन्द्रावली की चौथी प्रेमावस्था भक्त की सिद्धावस्था है जिसके आ जाने पर लोक व्यवहार हेय नहीं रह जाता, प्रत्युत् फलत्याग तथा उस व्यवहार का साधन ही करणीय रह जाता है—"न तत्सिद्धौ लोक व्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव।"[४] चन्द्रावली के इस पवित्र चरित्र में हम भक्ति सूत्र में वर्णित भक्त की गुणमहात्म्यासक्ति, रूपाशक्ति, स्मरणासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, कान्तासक्ति और परम विरहासक्ति का शुद्धतम रूप पाते हैं। चन्द्रावली के चरित्र-चित्रण में भारतेन्दु को असाधारण सफलता प्राप्त हुई है, परन्तु खेद है कि जार-प्रेम[५] के मानदंड से ही चन्द्रावली के चरित्र का मूल्यांकन करने के कारण श्री प्रेम नारायण शुक्ल जैसे लेखक इस विषय में भद्दी भूल कर बैठे हैं।

चन्द्रावली नाटिका इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि उसमें प्राकृतिक तथ्यों के मानवीकरण का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। भक्त चरित्र की महत्ता और अलौकिकता के स्तर को ऊँचा करने के लिये जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने भरत के चित्रकूट गमन के समय मेघ, हवन, पृथ्वी आदि को उनकी परिचर्या में निरत दिखाया है,[६] उसी प्रकार वनदेवी, वर्षा और संध्या को चन्द्रावली के समाश्वासन में तत्पर दिखाकर भारतेन्दु न केवल उसके चरित्र की लोकोत्तरता को अत्युच्च भूमि प्रदान करते हैं, अपितु उसके व्यक्तित्व से अनुप्राणित समस्त जड़ प्रकृति में भी 'महाचिति' को सजग होता हुआ दिखा देते हैं। उसके अतिरिक्त इन्हीं प्रतीकों के द्वारा विरह की उद्दीपन सामग्री

१—तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। ना० भ० सू० ५५।

२—तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्—ना० भ० सू० ६४।

३—त्रिरूप भंगपूर्वकं नित्यदास नित्यकान्ता भजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यं प्रेमैवकार्यं—वही ६

४—दे० ना० भ० सू० २१।२२।२३

५—'भारतेन्दु की नाट्यकला'—पृ० २३०-३१

६—दे० रामचरित मानस

वन का एकान्त, वर्षा, संध्या-को चेतना से मंडित करके वे रसान्वेषियों को विप्रलम्भ की घनीभूत अनुभूति सुलभ कर देते हैं। नाटकों में प्राकृतिक तथ्यों के मानवीकरण की इसी प्रवृत्ति को हम आगे चलकर पंत जी की ज्योत्स्नां में पूर्ण रूप से विकसित पाते हैं।

यथार्थोन्मुख पात्रों के चित्रण द्वारा भारतेन्दु भारतीय समाज की सांस्कृतिक नैतिक तथा आर्थिक दुरावस्था दिखाकर ही संतुष्ट नहीं रहे हैं, अपितु उन्होंने यह भी खोलकर बतला दिया है कि इसके लिए उत्तरदायी कौन है। उनको अपने नाटकों द्वारा जनता को यह बतला देना अभीष्ट था कि अंग्रेजों का शासन एक निश्चित योजना के अनुसार धीरे-धीरे उनका सर्वनाश कर रहा है। स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन के इस युग में यह बात वे खुलकर नहीं कह सकते थे, कारण इंगलिश पालिशी नामक ऐक्ट की हाक्मिेच्छा नामक दफा से[1] उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया जा सकता था। इसीलिए उन्होंने तत्कालीन विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक तथ्यों का मानवीकरण करके भारत दुर्दशा नाटक में उन्हें पात्रों के रूप में रंगमंच पर उतारा है। इस नाटक के नायक भारत दुर्दैव को जब दर्शक रंगमंच पर अवतरित होते हुये गर्व से यह घोषित करते हुये सुनते हैं :—

कौड़ी कौड़ी को करूं मैं सबको मुँहताज।
भूखे प्राण निकालूं इनका तो मैं सच्चा राज ।।

तो उन्हें उसके रूप में अंग्रेजी शासन को पहचान लेने में देर नहीं लगती। उसका आधा क्रिस्तानी और आधा मुसलनानी वेष यह बताता है कि इस अत्याचारी शासन की परंपरा मुसलमानों के समय से चली आ रही है। भारत दुर्दैव का चरित्र एक भयानक राक्षस के रूप में चित्रित हुआ है, जो अपनी प्रत्येक गति-विधि से रावण और कंस की स्मृति सजीव करता और तत्कालीन दर्शकों को उनकी वस्तुस्थिति का ज्ञान कराता चलता है। भारत दुर्दैव से भी भयानक उसका सेनापति है "सत्यानाश फौजदार" जिसके रूप में दर्शक अंग्रेजी शासन के शोषण और विनाश के तंत्र का साक्षात्कार करते हैं, जिसको इसी नाटक में अन्यत्र भारतेन्दु जी ने इंगलिश पालसी कहा है। भारतेन्दु जी जानते थे कि इंगलिश पालसी लाखों वेष धारण कर देश को चौपट कर रही है। "धर के हम लाखों ही भेष, किया चौपट यह सारा देश"। अतएव उन्हें अपने दर्शकों के सामने उसके विविध स्वरूपों का रहस्योद्घाटन कर देना आवश्यक था। यह उन्होंने सत्यानाश फौजदार के चरित्र की प्रत्येक गति-भंगी को सजीव और सार्थक बनाकर किया है।

१—दे० 'भारत दुर्दशा' नाटक पाँचवाँ अंक।

कथोपकथन तथा भाषा-शैली

भारतेन्दु के चरित्र-चित्रण की सफलता का श्रेय उनके कथोपकथनों की उपयुक्तता को प्राप्त है। इसी उपयुक्तता को हम क्षेमेन्द्र के शब्दों में औचित्य कह सकते हैं। उनके कथोपकथनों में प्रबन्ध, प्रकरण, वचन, भाषा आदि के औचित्य के साथ-साथ ही छन्दोमय संवादों में वृत्तौचित्य की योजना भी सुन्दर रूप में मिलती है। इसके फलस्वरूप उनके नाटकों में दृश्य और सूच्य कथांशों तथा आधिकारिक और प्रांसगिक कथाओं के पारस्परिक सम्बन्ध में व्यत्यय और असंतुलन उत्पन्न नहीं होने पाता। उनके कथोपकथनों में इतनी व्यंजकता तथा सांकेतिकता है कि पूर्वापर प्रकरण का सम्बन्ध स्वत: बड़ी स्वाभाविक रीति से उद्‌घाटित होता रहता है। इस काम के लिए उन्हें अनेक पुराने अथवा समकालीन नाटककारों की भाँति न तो अधिक अर्थोपक्षेकों की योजना करनी पड़ती है और न आधुनिक नाटककारों की भांति रंग संकेतों की भरमार करने की अपेक्षा रहतो है। इसके अतिरिक्त उन कथोपकथनों में न तो प्रस्तुत प्रसंग के किसी अंग का अनावश्यक विस्तार मिलता है और न अनंग कीर्तन (रस के अनुपकारक वस्तु का वर्णन) और न अनंग कीर्तन नामक दोष का उनमें समावेश होने पाता है। अवश्य उनके नाटकों में लम्बे-लम्बे भाषण और स्वगत कथन भी मिलते हैं परन्तु उनमें औचित्य का निर्वाह आश्चर्यजनक रीति से किया गया है। भावाभिव्यंजकता तथा आंगिक अभिनय सापेक्षता इन लम्बे भाषणों का ऐसा गुण है जो उनको कहीं भी नीरस नहीं होने देता। मेरा तो यह विचार है कि भारतेन्दु के लम्बे स्वगत भाषणों में अपेक्षाकृत अधिक दृश्यता और रस-वैचित्र्य का समावेश है। भारतेन्दु यह जानते थे कि लोग नाटक सुनने नहीं देखने जाते हैं। इसलिये उन्होंने इन लम्बे भाषणों की प्रत्येक पंक्ति में ऐसी भावभंगिमायें भरी हैं जिनकी अभिव्यक्ति आंगिक और सात्विक अभिनय में अत्यंत निपुण अभिनेता की अपेक्षा रखती है। उदाहरण के लिए सत्य हरिश्चन्द्र के श्मशान वाला हरिश्चन्द्र का लम्बा भाषण, जिसमें भयानक रौद्र, वीर, वीभत्स, अद्‌भुत आदि अनेक रसों का एकत्र समावेश है, अनुकूल स्थायीभाव और संचारीभाव दृष्टियों तथा विभिन्न अंगों के कर्मों से सम्यक अभिव्यक्त होकर असाधारण रूप से मनोहारी होने के लिये लिखा गया है। इसी प्रकार चन्द्रावली नाटिका में चन्द्रावली के अनेक लम्बे-लम्बे स्वगतकथन स्थायीभावज रति दृष्टि और संचाराभावज शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, विषण्णा, मुकुला, कुंचिता, विभ्रान्ता आदि दृष्टियों तथा मुखराग, भ्रूनासा आदि के कर्मों एवम् विविध सात्विकों के माध्यम से कितने मर्मस्पर्शी हो, सकते हैं इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। भारतेन्दु के नाटकों

के अन्य लम्बे भाषणों में विशेष उल्लेखनीय नीलदेवी के पागल का प्रलाप और भारत दुर्दशा के भारत-भाग्य का दीर्घ शोकोच्छ्वास है जो नितान्त अभिनय सापेक्ष होने से कहीं भी जी उकताने वाला नहीं है।

भारतेन्दु के नाटकीय कथोपकथनों की भाषा भी उनके पात्रों की स्थिति, प्रकृति और अनुभूति सबका समानरूप से अनुसरण करती है। भारतीय नाट्य शास्त्र ने प्रारम्भ में ही पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग का नियम बना दिया था, जिसका पालन संस्कृत-नाट्यपरम्परा में बराबर होता रहा। भरत[1] ने प्रत्येक अवस्था नाट्य के प्रयोग में लोक को ही प्रमाणभूत माना है, इसलिये उनके द्वारा निर्धारित नियमों में प्रगति के ऐसे अपरिमित तत्त्वों का समावेश है जो चिरकाल तक सब देशों के नाटककारों का अनुशासन कर सकते हैं। अतएव लोक संग्रही भारतेन्दु ने लोक प्रामाण्यवादी भरत द्वारा प्रवर्तित नाटकीय भाषा परम्परा को अपने नाटकों में ऐसा व्यापक रूप दिया, जिससे उसका स्थायी महत्त्व प्रकाश में आ गया। भारतेन्दु ने अपने जोगिनी नाटक में विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त अनेक प्रकार की बोलियों की शक्ति से पात्रों के व्यक्तित्व को सजीव कर दिया है तथा पूरे नाटक की पृष्ठभूमि को कटु यथार्थ के गहरे रंगों से रंग दिया है। नीलदेवी नाटक में हिन्दू और मुसलमान पात्रों की भाषा में समुचित भिन्नता रखकर उन्होंने दोनों के स्वभाव, संस्कृति और प्रकृति के अन्तर को स्पष्ट किया है। चन्द्रावली नाटक की सरस ब्रजभाषा ब्रज के वातावरण का निर्माण करने में सफल हुई है और भारत दुर्दशा पात्रों की भाषा की विविधता दुर्दैव ग्रस्त व्यापक अनैक्य का उपयुक्त प्रतीक बन गई है। इसी प्रकार उनके नाटकों की भाषा में सर्वत्र रसानुकूलता दृष्टव्य है, जो प्रेम, प्रशंसा अनादर, क्रोध, क्षुद्रता, महत्ता आदि की अभिव्यक्ति के अवसर पर तदनुकूल रंगरूप ग्रहण कर लेती है।

भारतेन्दु के नाटकों में छन्दों का विधान भी सहज औचित्य से युक्त हैं। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के छन्द भाव के साथ-साथ चलते है। हृदय के करुण, कोमल एवं कमनीय भावों की व्यंजना के लिए उन्होंने सवैया छन्द चुना है, जिसकी संख्या 'चन्द्रावली' में सर्वाधिक है। अपने अनूदित नाटकों में उन्होंने जहाँ वसन्त तिलका या मालिनी जैसे सुकुमार वृत्तों का अनुवाद किया है, वहाँ सवैया का ही प्रयोग किया है। मनोवेगों की विशेष उत्तेजित

१—लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्व भावजम्।

तस्मान्नाट्यप्रयोगेतु प्रमाणं लोक दृष्यते...... नाट्यशास्त्र २६ प्र० ११३ श्लो०

अवस्था की अभिव्यक्ति के लिये उन्होंने प्रायः गीतों का प्रयोग किया है। रससिक्त सवैये यदि एक ओर उन्हें देव और घनानन्द आदि रस सिद्ध कवियों की पंक्ति में लाकर बैठा देते हैं तो दूसरी ओर उनके बहुसंख्यक भक्ति-शृंगार समाश्रित पद उन्हें अष्टछाप के भक्त महाकवियों की श्रेणी में परिगणित होने का अधिकारी घोषित करते हैं। रोला की शक्ति का सुन्दर विकास उनकी प्रकृति का वर्णन सम्बन्धी अथवा वीर रस की उद्‌बोधनात्मक कविताओं में देखा जा सकता है तथा छप्पय की सुन्दर योजना माहात्म्य आदि मान्य वस्तुओं के वर्णन-प्रसंग में अथवा शोक-विषाद आदि गहन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये की गई है। विवरणात्मक अवसरों के लिये उन्होंने प्रायः दोहा-चौपाई को अधिक उपयुक्त माना है। घनाक्षरी छन्द का उनके हाथों संवादों को सरस एवम् चमत्कारी बनाने के लिये विशेष नाटकीय उपयोग हुआ है। विशेषतः घनाक्षरी छन्द के चरणों अथवा चरणार्धों का उन्होंने उक्ति-प्रत्युक्ति के लिए सुन्दर प्रयोग किया है। चन्द्रावली नाटक से एक उदाहरण दिया जाता है।

वर्षा—(हाथ पकड़ कर) कहाँ चली सजिकै ?
चन्द्रावली—पियारे सों मिलन काज,
वर्षा—कहाँ तू खड़ी है ?
चन्द्रावली—प्यारे ही को यह धाम है !
वर्षा—कहा कहै मुख सों ?
चन्द्रावली—पियारे प्रान प्यारे।
वर्षा—कहा काज है।
चन्द्रावली—पियारे सों मिलन मोंहि काज है।
वर्षा—मैं हूँ कौन बोल तो ?
चन्द्रावली—हमारे प्रान प्यारे हो न—
वर्षा—तू है कौन ?
चन्द्रावली—पीतम पियारो मेरो नाम है।
संध्या—आश्चर्य से पूंछत सखी के एकैं उत्तर वतावति,
जकी सी एक रूप आज श्यामा भई श्याम है !

आगे चलकर हिन्दी में इसी घनाक्षरी छन्द से मुक्त-छन्द और स्वछन्द छन्द का विकास हुआ, जिनमें नाटकों के कथोपकथन का माध्यम बनाने की अपरिमित क्षमता है। भारतेन्दु घनाक्षरी छन्द के उल्लिखित प्रयोग से इस में पथ-प्रदर्शन करते हुये दिखाई देते हैं।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि यद्यपि भारतेन्दु के नाटकों में कविता का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग है, पर वह चिन्त्य नहीं है। कारण वह सर्वत्र

तत्कालीन दर्शकों की रुचि की अनुकूलता से प्रेरित है और प्राय: कहीं भी नाटकीय आवश्यकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता। तात्पर्य यह कि उनका काव्य-प्रयोग नाट्य-विधान के आश्रित रहता है उससे स्वतन्त्र नहीं होता। उनका काव्य ही उनके नाटकों का भाव और अनुभूति के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। भारत दुर्दशा नाटक से यदि कविताएँ विशेष रूप से योगी, भारत, और भारत भाग्य आदि के गायन निकाल दिये जायें, तो भद्दी भँड़ैती के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जायेगा और राष्ट्रीयता के अजस्त्र प्रेरणा स्त्रोत होने का उसका मुख्य गुण नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार वीर रस एवं करुण रस की प्राणोन्मादिनी तथा हृदयद्राविणी कविताओं के बिना नीलदेवी नाटिका हत्या, विश्वासघात और रक्तपात की एक अति साधारण कथा मात्र रह जायगी, ऐसे ही यह समझना कठिन नहीं कि अन्य नांटकों में भी काव्य-प्रयोग उनका प्राण तत्त्व बनकर ओतप्रोत हैं। कुछ लोग भारतेन्दु की कविताओं में सामयिकता के उपादानों की प्रमुखता के कारण अस्थायित्व तो देख पाते हैं, पर वे इसीसे मिलीजुली उस स्थाई एवं शाश्वत भाव समृद्धि तथा रस संपत्ति को नहीं देख पाते जो उन्हें सर्वकालिक कवियों के पद पर प्रतिष्ठित रखने के लिए पर्याप्त हैं। वस्तुत: संसार के प्रत्येक बड़े नाटककार ने अस्थाई और स्थाई तथा सामयिक और शाश्वत दोनों विभिन्न अनुपातों में घुले-मिले रहते हैं और इसी में उनकी सफलता का रहस्य निहित रहता है। मेरा दृढ़ विश्वास है सामयिकता भारतेन्दु की शक्ति का आधार भूत उपादन है, कमजोरी का कारण नहीं।

रस

समस्त नाटकीय विधिविधान जिस एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होता है, वह है रस। भारतेन्दु रससिद्ध कलाकार थे इसलिये उनका प्रत्येक नाटक दर्शक को गहरी रसानुभूति में निमज्जित करने की क्षमता रखता है। भारतेन्दु ने अनेक प्रकार के रूपकों और उपरूपकों का प्रयोग किया हैं जिनका विवरण पहले आ चुका है। इन सब नाट्यरूपों में उन्होंने विभिन्न रसों का समावेश सजगता के साथ किया है। सत्य हरिश्चन्द्र और नील देवी दोनों का अंगी रस वीर है, इनमें से पहला धर्म वीर (अथवा दानवीर या दोनों) और दूसरा युद्धवीर का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इन दोनों ही नाटकों में यथास्थल अनेक प्रकार के रसों का ऐसा योग है, जो दर्शक की कुतूहल वृत्ति को निरन्तर जागृत रखता है। सत्य हरिश्चन्द्र में विश्वामित्र रौद्र रस के मूर्त रूप हैं, यद्यपि हरिश्चन्द्र जैसे परम विनीत परमोत्तम प्रकृति के पात्र के प्रति उनका क्रोध रौद्र रसाभास ही माना जाना चाहिये। इसी नाटक में श्मशानवाले

दृश्य में वीभत्स, शान्त, भयानक, हास्य, अद्भुत करुण तथा वीर का पुनः पुनः आविर्भाव-तिरोभाव अत्यन्त आकर्षक नाटकीय वैचित्र्य का सृजन करता है। नीलदेवी मे वीर के साथ रौद्र,हास्य और करुण का मनोरम योग है। इन दोनों नाटकों में भारती और सात्वती वृत्तियों की प्रधानता है विशेषतः यथा अवसर इन वृत्तियों के विविध अंगों का उपयोग भी बड़ी कुशलता से किया गया है। इसके अनेक उदाहरण इन नाटकों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। चन्द्रावली नाटिका में चारु विलास युक्ता कौशिकी वृत्ति और शृंगार रस का पूर्ण उत्कर्ष देखा जा सकता है। इस नाटिका में लास्य के भी गेयपद[१], स्थित पाठ्य,[२] आसीन[३] पाठ्य, उत्तमोत्तक[४], उक्तप्रत्युक्त[५] और त्रिगूढ़[६] आदि अंगों का रस-पुष्टि के लिए मनोरम योग किया गया है। इन संक्षिप्त निर्देशों से ही इस नाटिका के कलापक्ष के वैभव को कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इस नाटिका में स्मित हास्य शृंगार का अंग होकर बड़ी सुन्दरता से प्रयुक्त हुआ है। अन्धेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति और भारत दुर्दशा आदि में हास्य रस अंगी होकर आया है। इनमें अन्धेर नगरी शुद्ध और वैदिकी हिंस हिंसा न भवति संकीर्ण प्रहसन है। भारत दुर्दशा नाटक में भी हास्य रस की ही प्रमुखता है, भारत जननी में करुण प्रधान है।

विविध रासों की निष्पत्ति के लिये भारतेन्दु ने उनके विभावों की ऐसी उपयुक्त योजना की हैं जो साधारणीकरण को (सबके लिए) सुकर बना देती है। इसके उद्देश्य की सिद्धि के लिये वे केवल शास्त्रीय परम्परा पर ही निर्भर नहीं रहे हैं, अपितु उन्होंने रूढ़ि को लोक प्रवृति और लोक रुचि के प्रकाश में नई व्यंजकता और सहज प्रसरणशीलता प्रदान की हैं। पहले लिखा जा चुका है कि

१- चौथे अंक में सारंगी पर 'जोगन' के गीत।

२- पहले दूसरे अंकों में चन्द्रावली द्वारा विभिन्न रस पेशल सवैयों का पाठ।

३- पहले अंक में 'सखी ये नैना बहुत बुरे' और 'नैना वह छवि नाहिन भूलै' आदि गीत।

४- दूसरे अंक में 'आओ मेरे झूँठन के सरताज' और 'आओ मेरे मोहन प्यारे झूँठे।'

५- दूसरे अंक में वर्षा औरे चन्द्रावली तथा चौथे अंक में ललिता और जोगिन की उक्ति-प्रत्युक्ति।

६- चौथे अंक में जोगिन का वेष धारण किये हुये कृष्ण का कोमल मृदु मधुर नाट्य।

वे यह भली भाँति जानते थे कि उनके समय में जनता की रुचि विगतकाल की अपेक्षा 'अनेकांश में विलक्षण है'। अतः वे अपने वीर और शृंगार रसों के आलम्बनों-सत्य हरिश्चन्द्र और चन्द्रावली आदि नायक-नायिकाओं-को केवल अभिजात्य आदि नाट्यशास्त्र में परिगणित गुणों से अलंकृत करके ही संतुष्ट नहीं रहे हैं। उतने ही से तो उनके नाटक उस महान युग धर्म के संदेश वाहक न बन पाते जिसका व्याख्यान उसकी पंक्ति-पंक्ति में ध्वनित है। अतएव उन्होंने अपने नाटकों में ऐसी प्रतीकात्मकता का सन्निवेश किया जिससे वे (पात्र) किसी न किसी तत्कालीन दृढ़ विश्वास, समस्या, प्रवृत्ति अथवा वर्ग के प्रतिनिधि हो गये हैं। 'चन्द्रावली' की प्रतीकात्मकता की चर्चा पहले हो चुकी है। बाहर से सबसे अधिक पौराणिक दिखाई पड़ने वाले 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की प्रतीकात्मकता उसकी अपेक्षा अधिक लोक सामान्य है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का वातावरण विभिन्न कारणों से जनता की संस्कृति और चरित्र के उस अधःपतन की अवस्था का सूचक है जिसमें सच्चे और ईमानदार आदमी को पद पद-पर संकट ही सहने पड़ते हैं और जो भारतेन्दु के काल से अब तक ज्यों की त्यों चली आ रही है। इस दृष्टिकोण से देखने से सत्य हरिश्चन्द्र एक परम्परागत पौराणिक महापुरुष अथवा धीरोदात्त नायक मात्र नहीं रह जाते वरन् उन गिने-चुने व्यक्तियों के प्रतिनिधि बन जाते हैं, जो अकेले अथवा अल्पसंख्यक होते हुये भी सत्य और धर्म का पक्ष लेकर असत्य और अधर्म के विरुद्ध लड़ते हुये भयानक से भयानक विपत्तियाँ सहकर अपने को मिट जाने देते हैं। ऐसे लोगों के जीवन काल में संसार उनकी ओर सहानुभूति की दृष्टि तक नहीं डालता। मुझे पूरा विश्वास है कि इस नाटक में भगवान का रंगमंच पर अवतरण ऐसे ही व्यक्तियों के मन में धर्म की जय का विश्वास जगाये रखने के लिए विशेष रूप से कराया गया है, पिष्टपेषण मात्र के लिये नहीं। स्वयं भारतेन्दु इस नाटक की प्रस्तावना में अपने और सत्य हरिश्चन्द्र के चरित्र को आनुपूर्वी बताकर इसी ओर संकेत करते हैं। "हाँ प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ किए भी गुण रूप न समझा"
"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि पाछे प्यारे हरिश्चन्द्र की कहानी रहि जायेगी।"

भारतेन्दु के नाटकों में आधिदैविक शक्तियों का उपयोग भी कुछ न कुछ नई दृष्टि से अवश्य हुआ है जिसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। मैं यह तो नहीं कहता कि भारतेन्दु ने जितने आधिदैविक व्यक्तित्व रंगमंच पर उतारे हैं, वे सब के सब औपलाक्षणिक है। भारतेन्दु को इतनी दूर जाने की अनिवार्य आवश्यकता भी नहीं थी, कारण उस समय के अधिकांश दर्शक आधिदैविक चमत्कारों में निष्ठा रखने वाले थे। पर उस समय के दर्शक पर ही नहीं आगे आने वाले युग के दर्शक पर भी भारतेन्दु की दृष्टि थी। इसलिये उन्होंने

अपने नाटकों के प्रमुख आधिवैदिक व्यक्तित्व औपलाक्षणिकता अथवा मनोवैज्ञानिक सार्थकता से अवश्य मंडित किये गये हैं। उदाहरण के लिये 'नीलदेवी' के सातवें दृश्य में बन्दी और मूर्छित महाराज सूर्यदेव के सामने 'अब तजहु वीरवर भारत की सब आशा' की अत्यंत करुण तान छेड़ने वाला देवता उनके दु:स्वप्न अथवा व्यामोह का मानवीकरणमात्र है। वास्तव में यह देवता उनकी पराजय जन्य निराशा का प्रतिरूप है, और उसका गायन उनके मन में उठनेवाले प्रश्नों, संदेहों और आशंकाओं की मुखर अभिव्यक्ति। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस देवता को केवल दर्शक देखते हैं, राजा स्वयं नहीं देख पाता, कारण उसकी मूर्छावस्था तक ही वह वहाँ ठहरता है और सूर्यदेव के चैतन्यलाभ करते ही तिरोहित हो जाता है। क्या भारतेन्दु का वह संकेत स्पष्ट नहीं है ?

डा॰ डिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय

मुद्रक—दि सेन्ट्रल प्रेस प्रा० लि०, कानपुर।

अपने नाटकों के प्रमुख आधिवैदिक व्यक्तित्व औपलाक्षणिकता अथवा मनोवैज्ञानिक सार्थकता से अवश्य मंडित किये गये हैं। उदाहरण के लिये 'नीलदेवी' के सातवें दृश्य में बन्दी और मूर्छित महाराज सूर्यदेव के सामने 'अब तजहु वीरवर भारत की सब आशा' की अत्यंत करुण तान छेड़ने वाला देवता उनके दुःस्वप्न अथवा व्यामोह का मानवीकरणमात्र है। वास्तव में यह देवता उनकी पराजय जन्य निराशा का प्रतिरूप है, और उसका गायन उनके मन में उठनेवाले प्रश्नों, संदेहों और आशंकाओं की मुखर अभिव्यक्ति। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस देवता को केवल दर्शक देखते हैं, राजा स्वयं नहीं देख पाता, कारण उसकी मूर्छावस्था तक ही वह वहाँ ठहरता है और सूर्यदेव के चैतन्यलाभ करते ही तिरोहित हो जाता है। क्या भारतेन्दु का वह संकेत स्पष्ट नहीं है?

डा॰ डिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय
96683

मुद्रक—दि सेन्ट्रल प्रेस प्रा० लि०, कानपुर।